

250

THE VIKRAM

JOURNAL OF
VIKRAM UNIVERSITY, UJJAIN

Vol. XVIII No. 2 & 4]

ARTS

[May & Nov. 1974

Abbr. J. Vik. Uni.



महावीर विशेषांक



तीर्थंकर महावीर

PUBLISHED BY

VIKRAM UNIVERSITY, UJJAIN

THE VIKRAM

QUARTERLY RESEARCH JOURNAL OF VIKRAM UNIVERSITY, UJJAIN

EDITORIAL BOARD

Arts Number

- Dr. Ram Murti Tripathi
(Chairman and Managing Editor)
- Padma Bhushan* Dr. Suryanarayan Vyas
- Dr. K. C. Jain
- Shri Shyam Sunder Jhanwar
- Shri R. S. Vidyarthi
- Shri V. VenketaChelam
- Shri D. N. Potnavish
- Dr. A. B. Misra
- Dr. R. K. Awasthi
- Dr. B. L. Nigam
-

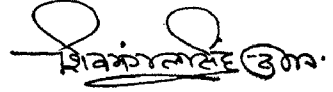
आ सु ख

भगवान महावीर के २५०० वें निर्वाण महोत्सव ने समस्त राष्ट्र को नयी संचेतना से आंदोलित कर दिया। आज के युद्ध-जर्जर, रक्त-पिपासु और आत्मघाती विश्व को भगवान महावीर की अमोघ वाणी के रूप में नया संजीवन प्राप्त हुआ और दो सहस्र वर्ष पश्चात् भी नये संदर्भ में उसका प्रत्यावर्तन चरितार्थ प्रतीत होता है। इसी रूप में प्रत्येक कल्प में यह कालातीत समवसरण घटित होता रहता है। आज की दुर्धर्ष तकनीकी प्रतिद्वंद्विता के तनाव में हम सब असाधारण (abnormal) हो गए हैं और आकस्मिक उत्तेजना के क्षणों में जीवन-यापन कर रहे हैं। आज अपना अस्तित्व संतुलित रखने के लिए अगाध सहिष्णुता, दाक्षिण्य और उदारता की आवश्यकता है जिसका एक-मात्र उत्तर अनेकांतवाद के दर्शन में ही उपलब्ध हो सकता है।

भगवान महावीर ने जो हमें कर्म के प्रति निष्ठा और स्वयम् के प्रति आत्मविश्वास प्रदान किया वह उनको सबसे बड़ी देन है। प्रसिद्ध जैन-विचारक श्री वीरेन्द्रकुमार जैन ने 'अनुत्तर योगी': भाग-२ में राजर्षि वर्धमान कुमार और शुक्र को परिचर्चा के रूप में इस तथ्य को बहुत सुन्दर रूप में उद्घाटित किया है। वर्धमान के शब्दों में—“कर्म-चक्र का निर्दलन अरिहन्त अकेले ही करते हैं। अपने बाँधे कर्म-बन्धन को काटने में दूसरे की सहायता सम्भव नहीं। अरिहन्तों ने पर सहाय न कभी स्वीकारी, न स्वीकारते हैं, न कभी स्वीकारेंगे। सर्वजयी जिनेन्द्र अपने ही वीर्य के बल से केवलज्ञान प्राप्त करते हैं, अपने ही वीर्य के बल से मोक्ष-लाभ करते हैं।”

विक्रम विश्वविद्यालय ने भी इस महान् पर्व पर अपनी अर्चना अर्पित करने का जो संकल्प किया है उसमें विचारगोष्ठी और व्याख्यानमाला के अतिरिक्त भगवान के सम्यक्-ज्ञान, सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-चारित्र्य की तात्त्विकता को जन-जन को उपलब्ध कराने के लिए विक्रम शोध-पत्रिका का एक शोध विशेषांक भी भगवान महावीर को समर्पित करने का अनुष्ठान किया जिसमें धर्म, विज्ञान, साहित्य और साधना खण्डों के अतिरिक्त वर्तमान परिपार्श्व में जैन-धर्म के मौलिक योगदान की भूमिका को भी प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। विद्वान् विचारकों, चिन्तकों और साधकों ने इस विशेषांक में विश्व के महान् परित्राता भगवान महावीर के जीवन, कृतित्व और संदेश को अत्यन्त निरपेक्ष भाव से प्रस्तुत किया है। उनके अमोघ वाक्य ने “अप्य दीपो भव” के रूप में मानव की अप्रतिहत आस्था का केतु प्रतिष्ठित किया। आज की अवसर्पणी प्रवृत्ति को उत्सर्पणी बनाने की साधना ही इसके मूल में अन्तर्निहित है। 'जैन

प्रतीक' में अंकित 'परस्पररोपग्रहो जीवानाम्' के आधार पर बीस-सूत्रीय कार्यक्रम के रूप में अभिहित राष्ट्र के इतिहास में नये मोड़ का आकलन भी किया जा सकता है। भगवान महावीर के उपदेश मानवमात्र के लिए हैं। वे देश, जाति वर्ग और वर्ण की सीमाओं से परे हैं। जीवन के जीवन्त आचार-विचारों से सम्बद्ध होने के कारण उन्हें किसी एक ग्रंथ में भी नहीं बाँधा जा सकता, इसीलिए भगवान महावीर के उपदेशों को किसी सम्प्रदाय के अन्तर्गत सीमित नहीं किया जा सकता। इनके उन्मुक्त सिद्धांतों को निर्ग्रन्थ या निगंठ कहना स्वाभाविक ही है। विश्व-कल्याण की मंगलयात्रा में मानव-मात्र के लिए इस अहेतुक अहिंसा का संबल स्वयम् में ही बहुमूल्य है। विश्वविद्यालय के इस प्रकाशन में विश्व को इस महिमामयी विभूति का उसी ज्योतिर्मय आस्था के दीप का स्तवन किया गया है। आशा है दीप से दीप जलाने की अखण्ड परम्परा इस महोत्सव के प्रयासों को कर्म, विवेक और उत्सर्ग के आलोक में सदा अग्रसर करती रहेगी।


शिवमंगलसिंह (30/12)

विक्रम विश्वविद्यालय,
उज्जैन (म.प्र.)

(शिवमंगलसिंह 'सुमन')
कुलपति

प्रस्तुत अंक के सम्बन्ध में —

भगवान् महावीर के २५०० वें निर्वाण महोत्सव समारोह के सन्दर्भ में विक्रम विश्वविद्यालय ने अपने श्रद्धामय भावमेघ की वृष्टि जिस रूप में की, उसका मूर्तरूप यह 'विशेषांक' है। विज्ञान विनिर्मित वर्तमान सन्दर्भ में भौतिक सत्ता पर चेतना के सर्वाधिक संकेन्द्रण ने विश्व को हिंसा और परिग्रह के ध्वंस-गामी कगार पर लाकर खड़ा कर दिया है—ऐसे उद्वेजक क्षण में अहिंसा और अपरिग्रह की प्रतिमूर्ति की ओर अनायास प्रतप्त विश्वमानस का झुक जाना सहज सम्भव है, श्रद्धांजलि नैसर्गिक समुच्छलन है।

विशेषांक अपने विश्वविद्यालय के कुलपति डॉ. सुमन की 'आकांशिका' तथा भारत और विश्वविश्रत चिन्तकों के वैदुष्यपूर्ण निबन्धों से स्तरीय गरिमा प्राप्त कर सका है। मैं इस अवसर पर उन सभी सुधीजनों के प्रति कृतज्ञता समर्पित करता हूँ जिनके हार्दिक और वैचारिक सहयोग तथा सत्प्रयास से पूत संकल्प साकार हो सका है।

डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी
प्रबन्ध सम्पादक

विषय-सूची

इतिहास एवम् पुरातत्व-खण्ड

				पृष्ठ
१.	ऐतिहासिक जैनधर्म	३
	विद्यावारिधि डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन, लखनऊ			
२.	महावीरश्वामी के पूर्व जैनधर्म	७
	डॉ. मनोहरलाल दलाल, उज्जैन			
३.	बौद्ध साहित्य में महावीर	२५
	हरीन्द्र भूषण जैन, उज्जैन			
४.	Jain Temples In India	३१
	Professor K. D. Bajpai, Sagar			
५.	Life and Teachings of Lord Mahavira	३५
	Dr. Kailashchand Jain, Ujjain			

दर्शन-खण्ड

६.	Conception of Moksha	४६
	Dr. B. B. Raynade, Ujjain			
७.	जैन-दर्शन की आधारभूति : अनेकांतवाद एवम् स्याद्वाद		५३
	डॉ. महावीर सरन जैन			
८.	Atomism in Jain Philosophy	६३
	Dr. M. M. Bokadia, Ujjain			
९.	निश्चय नय-व्यवहार नय	७१
	दयाचन्द शास्त्री, उज्जैन			
१०.	सामाजिक और आर्थिक सन्दर्भ में महावीर का दर्शन	७७
	डॉ. गोकुलचन्द्र जैन, वाराणसी			

साधना-खण्ड

११.	जैन-दर्शन का त्रिविध साधनामार्ग	९१
	डॉ. सागरमल जैन, भोपाल			
१२.	Jain Monachism	१०१
	Dr. Mohan Lal Mehta, Varanasi			
१३.	हिंसा प्रकृति है अहिंसा संस्कृति है	१०७
	डॉ. ब्रजबिहारी निगम, उज्जैन			

१४. महावीर के तपोयोग का रहस्य ११३
मुनिश्री महेन्द्रकुमारजी 'प्रथम'

व्यवहारोपयोगी चिन्तन-खण्ड

१५. Social Significance of Jain Ethics ११६
Dr. R. C. Dwivedi, Udaipur

१६. नारी-जीवन के महावीरकालीन सन्दर्भों का १२७
पर्यावलोकन एवम् समीक्षण
डॉ. नेमीचन्द्र जैन

१७. Scientific Basis of Food and Diet १३३
in Lord Mahaveer's Times
Dr. N. L. Bordia, Indore

भाषा-खण्ड

१८. Mahavir's Doctrine of Ahimsa १३६
and Its Impact

Dr. S. M. Pahadiya, Ujjain

१९. भगवान् महावीर की मूलवाणी का १४५
भाषा वैज्ञानिक महत्व

डॉ. देवेन्द्रकुमार शास्त्री, नीमच

२०. भगवान् महावीर की परम्परा का १६१
जन-भाषा के विकास में योगदान

डॉ. प्रेम सुमन जैन, उदयपुर

इतर विध जैन वाङ्मय

२१. The Conquest of Gandharvadatta १६६
in The Vasudevahindi

Professor J. C. Jain, Bombay

२२. भारतीय विश्वविद्यालयों में जैन साहित्य १७७
और संस्कृति विषयक शोध-कार्यों की सूची
भारतीय पत्रिका (जैन साहित्य संगोष्ठी स्मारिका) से सामार

२३. सिंधिया प्राच्य-विद्या प्रतिष्ठान के महावीर १८७
विषयक दुर्लभ हस्तलिखित ग्रंथ

डॉ. सुरेन्द्र कुमार आर्य

इतिहास एवम् पुरातत्त्व खण्ड

ऐतिहासिक जैनधर्म

(विद्यावारिधि डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन, लखनऊ)

जैनधर्म का परम्परात्मक इतिहास अधुनात्मक ज्ञात पाषाणयुगीन आदिम मानव से प्रारम्भ होता है। उस काल का मानव, असभ्य, असंस्कृत किन्तु सरल एवम् निर्दोष था। उसकी इच्छाएँ एवम् आवश्यकताएँ अत्यन्त सीमित थीं और जीवन प्रायः पूर्णतया प्रकृत्याश्रित था। उस युग में धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक किसी प्रकार की कोई व्यवस्था नहीं थी, न ग्राम और नगर थे और न कोई उद्योग धन्धे। एक के बाद एक होने वाले चौदह कुलकरों या मनुओं ने उस काल के मानवों का नेतृत्व एवम् मार्गदर्शन किया और समयानुसारी सरलतम व्यवस्थाएँ दीं। यह युग जैन परम्परा में भोग-भूमि कहलाता है।

अन्तिम कुलकर नाभिराय थे जिनकी पत्नी मरुदेवी से प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ ऋषभदेव का जन्म हुआ। इनके जन्म स्थान पर ही अयोध्या नाम का प्रथम नगर बसा। ऋषभदेव ने ही सर्वप्रथम कर्मभूमि (कर्मप्रधान जीवन) का ॐ नमः किया, ग्राम नगर बसाए, कृषि, शिल्प आदि उद्योग धन्धों का प्रचलन किया, विवाह प्रथा, समाज व्यवस्था, राज्य व्यवस्था स्थापित की, लोगों को अक्षर ज्ञान एवम् अंकज्ञान दिया। अन्त में गृहत्यागी होकर तपस्या द्वारा आत्मशोधन किया, केवलज्ञान प्राप्त किया और धर्मतीर्थ का प्रवर्तन किया। लोक के कल्याण के लिए जिस सरलतम धर्म का उन्होंने उपदेश दिया वह अहिंसा, संयम, तप एवम् योग प्रधान मोक्ष-मार्ग था। उनके ज्येष्ठ पुत्र भरत सर्वप्रथम चक्रवर्ती सम्राट् थे—उन्हीं के नाम से यह देश भारतवर्ष नाम से प्रसिद्ध हुआ। भरत के अनुज बाहुबलि परम तपस्वी थे—दक्षिण भारत में श्रवणबेलगोल आदि की अत्यन्त विशालकाय गोम्मट मूर्तियाँ उन्हीं की हैं।

ऋषभदेव के उपरान्त क्रमशः अजित, सम्भव, अभिनन्दन, सुमति, पद्मप्रभ, सुपाश्व, चन्द्रप्रभ, पुष्पदत्त, शीतल, श्रेयस, वासुपूज्य, विमल, अनन्त, धर्म, शान्ति कुन्धु, अर एवम् मल्लि नाम के श्रमण तीर्थंकर हुए जिन्होंने अपने-अपने समय में उसी अहिंसाप्रधान आत्म धर्म का उपदेश दिया। ये तीर्थंकर एक दूसरे से पर्याप्त समयान्तर से हुए। इसमें से प्रथम तीर्थंकर तो प्रागैतिहासिक सिन्धुघाटी सभ्यता के युग से भी पूर्ववर्ती हैं। दूसरे से नौवें पर्यन्त उक्त सभ्यता के समसामयिक प्रतीत होते हैं। दसवें तीर्थंकर शीतलनाथ के समय में ब्राह्मण-वैदिक धर्म का उदय हुआ प्रतीत होता है, जिसका कालान्तर में उत्तरोत्तर उत्कर्ष एवम् प्रसार होता गया। बीसवें तीर्थंकर मुनिसुवृत्त के तीर्थकाल में ही अयोध्या के इक्ष्वाकुवंशी (ऋषभदेव की मंजा इक्ष्वाकु भी थी) महाराज रामचन्द्र हुए जो अन्ततः अर्हत्-केवलि होकर मोक्षगामी हुए। इक्कीसवें तीर्थंकर नेमिनाथ ने मिथिलापुरी में अध्यात्मवाद का प्रचार किया जिसने कालान्तर से औपनिषदिक आत्म-विद्या का रूप लिया। बाईसवें तीर्थंकर अरिष्टनेमि महाभारत काल में हुए और नारायण कृष्ण के ताऊजात भाई थे। कृष्ण उस युग की राजनीति के तो सर्वोपरि नेता थे ही, उन्होंने ब्राह्मण और श्रमण, अथवा वैदिक और ब्राह्म्य, संस्कृतियों के समन्वय का भी स्तुत्य प्रयत्न किया।

महाभारत युद्ध के कई शताब्दी पूर्व से ही वैदिक धर्म के उत्तरोत्तर वृद्धिगत उत्कर्ष के सन्मुख श्रमणधर्म अनेक अंशों में पराभूत-सा हो गया था और काशी, मगध, विदेह आदि पूर्व प्रदेशों की ओर बढता चला गया था। किन्तु उस महायुद्ध के परिणाम स्वरूप वैदिक आर्यों की राज्यशक्ति एवम् वैदिकधर्म का प्रभाव दोनों पतनोन्मुख हुए और भारतीय इतिहास का उत्तर-वैदिकयुग प्रारम्भ हुआ, जो साथ ही श्रमणधर्म के पुनरुत्थान का युग था। तीर्थंकर नेमि और नारायण कृष्ण इस श्रमण पुनरुत्थान के प्रस्तोता थे और २३ वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ (८७७-७७७ ईसा पूर्व) उक्त आन्दोलन के सर्व महान नेता थे। अन्त में अन्तिम तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर (५६६-५२७ ईसा पूर्व) द्वारा उक्त पुनरुत्थान पूर्णतया निष्पन्न हुआ।

महावीर का युग महामानवों का महायुग था और उनमें स्वयम् उनका व्यक्तित्व सर्वोपरि था। उसी युग में शाक्यपुत्र गौतम बुद्ध ने बौद्धधर्म की स्थापना की। यह भी श्रमण परम्परा का ही एक सम्प्रदाय था। आजीविक-सम्प्रदाय-प्रवर्तक मकशलिगोशाल प्रभृति अन्य अनेक श्रमण धर्मोपदेष्टा भी उस काल में अपने-अपने मतों का यत्र-तत्र प्रचार कर रहे थे। उस काल के अथवा उत्तरवर्ती युगों के जनो और स्वयम् महावीर ने यह कभी नहीं कहा कि उन्होंने किसी नवीन धर्म की स्थापना की है। वह तो पूर्ववर्ती तेईस तीर्थंकरों की धर्म-परम्परा का ही प्रतिनिधित्व करते थे। उसी का स्वयम् आचरण करके लोक के सन्मुख उन्होंने अपना सजीव आदर्श प्रस्तुत किया। उन्होंने उक्त धर्मव्यवस्था में कतिपय समयानुसारी सुधार-संशोधन भी किये, उसके तात्विक एवम् दार्शनिक आधार को सुदृढ़ एवम् व्यवस्थित किया और चतुर्विध जैनसंघ का पुनर्गठन किया तथा उसे सशक्त संख्या बना दी।

महावीर के पार्श्व आदि पूर्ववर्ती तीर्थंकरों का जैनधर्म पहले से ही देश के अनेक भागों में प्रचलित था। कालदोष से उसमें जो शिथिलता आ गयी थी वह दूर हुई और उसमें नया प्राण संचार हुआ। महावीर के निर्वाण के पश्चात् उनकी शिष्य परम्परा में क्रमशः गौतम, सुधर्म एवम् जम्बू नामक तीन अर्हत्-केवलियों ने उनके संघ का नेतृत्व किया। तदनन्तर क्रमशः पाँच श्रुतकेवली हुए जिनमें भद्रबाहु प्रथम (ईसा पूर्व ४थी शती के मध्य के लगभग) अन्तिम थे। उस समय उत्तर भारत के मगध आदि प्रदेशों में बारह वर्ष का भीषण अकाल पड़ा, जिसके परिणाम स्वरूप जैन साधु संघ का एक बड़ा भाग दक्षिण भारत की ओर विहार कर गया। इसी घटना में संघभेद के वह बीज पड़ गए जिन्होंने आगे चलकर दिगम्बर-श्वेताम्बर सम्प्रदाय-भेद का रूप ले लिया। गच्छ संघ-गण साधु आदि में भी शनैः शनैः विभक्त होता गया और कालानन्तर में अन्य अनेक सम्प्रदाय भी उत्पन्न हुए। उपरोक्त दुःभिक्ष के बाद यह भी अनुभव किया जाने लगा कि परम्परा से चले आए श्रुतागम का जितना जो अंश सुरक्षित रह गया है उसका पुस्तकीकरण कर दिया जाय। दूसरी शती ईसापूर्व के द्वितीय पाद में उड़ीसा में हुए महामुनि सम्मेलन में यह प्रश्न उठा और मथुरा के जैन साधुओं ने इस सरस्वती आन्दोलन का अथक प्रचार किया। फलस्वरूप ईसापूर्व प्रथम शती से ही आगमोद्धार एवम् पुस्तकीकरण का कार्य

प्रारम्भ हो गया और पाँचवीं शती ई. के अन्त तक विभिन्न सम्प्रदायों ने अपनी-अपनी परम्परा में सुरक्षित जिनवाणी को लिपिबद्ध कर लिया। मूल ग्रन्थों पर निर्युक्ति, चूर्णी, वृत्ति, भाष्य, टीका, आदि विपुल व्याख्या साहित्य का सृजन तथा विविध स्वतन्त्र ग्रन्थों का प्रणयन चालू हो गया। देश और काल की परिस्थितियों वश जैन संस्कृति के केन्द्र अदलते बदलते रहे। बहुमुखी विकास भी होता रहा और उत्थान पतन भी होते रहे।

इस इतिहास काल में जैनधर्म को राज्याश्रय एवम् जनसामान्य का आश्रय भी विभिन्न प्रदेशों में बहुधा प्राप्त रहा। मगध के बिम्बसार (श्रेणिक) आदि शिशुनागवंशी नरेश, उनके उत्तराधिकारी नन्दवंशी महाराजे और मौर्य सम्राट जैनधर्म के अनुयायी अथवा प्रबल पोषक रहे। मौर्य चन्द्रगुप्त एवम् सम्प्रति के नाम तो जैन इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखे हैं। दूसरी शती ईसापूर्व में मौर्य वंश की समाप्ति पर ब्राह्मण धर्मी शुंग एवम् कन्ध राजाओंके काल में मगध में जैनधर्म का पतन हो गया, किन्तु मथुरा, उज्जयिनी और कलिंग उसके सशक्त केन्द्र बन गये। कलिंगचक्रवर्ती सम्राट खारवेल जो अपने युग का सर्वाधिक शक्तिशाली भारतीय नरेश था, जैनधर्म का परम भक्त था। इसी प्रकार सम्वत् प्रवर्तक भालवगण का नेता वीर विक्रमादित्य भी जैन था।

इस समय के बाद उत्तर भारत में जैनधर्म को फिर कभी कोई उल्लेखनीय राज्याश्रय प्राप्त नहीं हुआ। कतिपय छोटे राजाओं, सामन्त-सरदारों, कभी-कभी राज-परिवारों के कुछ व्यक्तियों को छोड़कर कोई सम्राट, बड़ा नरेश या राज्यवंश इस धर्म का अनुयायी नहीं हुआ, किन्तु उस पर प्रायः कोई अत्याचार और उत्पीड़न भी नहीं हुआ। सामान्यतः शक, कुषाण, गुप्त, वर्धन, आयु, गुर्जर, प्रतिहार, गहड़वाल, तोमर, चौहान आदि पूर्वमुस्लिमकालीन प्रायः सभी महत्वपूर्ण शासकों से उसे सहिष्णुतापूर्ण उदारता का ही व्यवहार प्राप्त हुआ। मध्यप्रदेश और मालवा के कलचुरि, परमार कच्छपधट, चन्देल आदि नरेशों से, गुजरात के मौर्य, चावड़ा, सोलंकी और वधेले राजाओं से तथा राजस्थान के प्रायः सभी राज्यों में पर्याप्त प्रश्रय और संरक्षण भी प्राप्त हुआ। राजस्थान में तो यह स्थिति वर्तमान काल पर्यन्त चलती रही। मन्त्री, दीवान, भंडारी, दुर्गपाल, सेनानायक आदि पदों पर भी अनेक जैन नियुक्त होते रहे और वाणिज्य-व्यापार एवम् साहूकार-तो अधिकतर उनके हाथ में ही रहता रहा।

उत्तर भारत की अपेक्षा दक्षिण भारत में जैनधर्म की स्थिति कहीं अधिक श्रेष्ठ एवम् सुदृढ़ रही। इसी सन् के प्रारम्भ से लेकर १६ वीं शती के मध्य में विजयनगर साम्राज्य के पतन पर्यन्त तो अनेक उत्थान पतनों के बावजूद वह वहाँ एक प्रमुख धर्म बना रहा। सुदूर दक्षिण के प्रारम्भिक चेर, पाँड्य, चोल, पल्लव, कर्णाटक का गंगवंश और दक्षिणापथ के कदम्ब, चालुक्य, राष्ट्रकूट, उत्तरवर्ती चालुक्य, कलचुरि, होयसल आदि वंशों के अनेक नरेश, उनके अनेक सामन्त, सरदार, सेनापति, दण्डनायक, मंत्री, राज्य एवम् नगर श्रेष्ठ जैनधर्म के अनुयायी हुए। जनसामान्य के भी प्रायः सभी जातियों एवम् वर्गों में उसका अल्पाधिक प्रचार रहा। किन्तु वहीं ७ वीं शती के शैव नायनारों और वैष्णव भालवारों के प्रभाव में कई नरेशों ने तथा ११ वीं-१२ वीं शती से शैवधर्मी चोल सम्राटों ने,

रामानुजाचार्य के अनुयायी कतिपय वैष्णव राजाओं ने तथा वासव के लिंगायत (वीरशैव) धर्म के अनुयायी अनेक नायको ने जैनधर्म और जैनों पर अमानुषिक अत्याचार भी किए। परिणाम स्वरूप शनैः-शनैः उसकी स्थिति एक प्रमुख धर्म की स्थिति से गिरकर एक गौण सम्प्रदाय की रह गई।

१३ वीं शती के प्रारम्भ से लेकर १८ वीं शती के प्रारम्भ तक भारत वर्ष में मुस्लिम शासन की प्रधानता रहने और उस काल में जैनधर्म की स्थिति तथाकथित हिन्दू धर्म जैसी ही रही। शासकों की दृष्टि में दोनों में कोई भेद नहीं था, दोनों ही विधर्मी काफिर थे। जैनों का संख्याबल उत्तरोत्तर घटता गया और वे वाणिज्य-व्यापार में ही सीमित होते गए, इसीलिए शान्तिप्रिय एवम् निरीह होने के कारण शासकों के धार्मिक अत्याचार के शिकार भी अधिक नहीं हुए इस काल में अन्त के डेढ़ सौ वर्ष का मुगल शासन अपेक्षाकृत अधिक सहिष्णु रहा।

तदनन्तर लगभग डेढ़ सौ वर्ष देश में अराजकता का अन्धयुग रहा, जब किसी का भी धन, जन एवम् धर्म सुरक्षित नहीं था। उसके पश्चात् १९ वीं शती के मध्य के लगभग से लेकर १९४७ में स्वतन्त्रता प्राप्ति पर्यन्त, देश पर अंग्रेजों का शासन रहा। शान्ति, सुरक्षा, न्याय शासन, पश्चिमी शिक्षा का प्रचार, पुस्तकों एवम् समाचार-पत्रों का मुद्रण-प्रकाशन, यातायात के साधनों का अभूतपूर्व विस्तार, नव जागृति, समाज-सुधार एवम् स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए किए गए आन्दोलन एवम् संघर्ष इस युग की प्रमुख विशेषताएँ रहीं और जैनो जन उन सब से ही यथेष्ट प्रभावित रहे। उन्होंने सभी दिशाओं में प्रगति की, स्वतन्त्रता संग्राम में भी सोत्साह सक्रिय भाग लिया और बलिदान किए।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भी राष्ट्र के पुर्ननिर्माण में उनका उपयुक्त योगदान रह रहा है। जैनधर्म अपनी मौलिक विशेषताओं को लिए हुए अब भी एक सजीव सचेत जीवन-दर्शन है और वर्तमान युग की चुनौतियों को स्वीकार करने में सक्षम है।

धर्म-दर्शन ज्ञान-विज्ञान, साहित्य-कला, आचार-विचार, प्रायः सभी क्षेत्रों में उसकी सांस्कृतिक बपौती भी स्पृहणीय है।

महावीरस्वामी के पूर्व जैनधर्म

डॉ. मनोहरलाल दलाल, उज्जैन

भगवान् महावीर के पूर्व जैनधर्म के अस्तित्व और ऐतिहासिक विकासक्रम पर विद्वानों में अत्यन्त मतभेद है। उपलब्ध साधन स्रोतों के मूल्यांकन और तात्पर्य वैभिन्य के कारण प्राङ् महावीरयुगीन जैनधर्म के सम्बन्ध में विद्वानगण के निष्कर्ष भिन्न-भिन्न हैं। जैन परम्परा दृढ़तापूर्वक महावीर के पूर्व तेईस तीर्थंकरों का विभिन्न अंतरालों में जन्म और धर्मदेशना द्वारा प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव के सिद्धांतों का प्रचार-प्रसार अक्षुण्ण मानती है। कुछ विद्वान् वैदिकयुग के पूर्व से ही भारत में श्रमण-संस्कृति का अस्तित्व स्वीकार करते हैं। एच. याकोबी ने विभिन्न प्रमाणों के आधार पर पार्श्वनाथ की ऐतिहासिकता सिद्ध की है, जिनका महापरिनिर्वाण महावीर के २५० वर्ष पूर्व हुआ था।

जैनधर्म की प्राचीनता

जैन-परम्परा जगत् को अनादिकाल से अनवरत मानती है, इसमें जगत् का अप-कर्ष-उत्कर्षमय कालचक्र अनवरतक्रम से गतिशील माना गया है। इन कालचक्रों में तीर्थंकरों द्वारा धर्म का प्रचार अविरल रहा है और रहेगा। जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, तिलोय पण्णत्ति, आवश्यक जूरिण आदि परवर्ती ग्रन्थों में इस सतत कालचक्र को अवसर्पिण और उत्सर्पिणकाल की संज्ञा दी गई है। हास्त्रोन्मुखकाल को अवसर्पिण और विकासोन्मुखकाल को उत्सर्पिण नाम से सम्बोधित किया गया है। अवसर्पिण ने क्रमिक अपकर्ष और उत्सर्पिण के क्रमिक उत्कर्षकाल को परस्पर प्रतिकूल क्रम से छः-छः भागों (आरों) में विभाजित किया गया है। सुषम-सुषम, सुषम, सुषम-दुषम, दुषम-सुषम और दुषम-दुषम अवसर्पिणकाल तथा दुषम-दुषम, दुषम, दुषम-सुषम, सुषम-दुषम, सुषम और सुषम-सुषम उत्सर्पिणकाल के भाग हैं। इस पूरे कालचक्र को बीस कोटाकोटी सांगोपम का मानकर प्रत्येक काल के दस कोटाकोटी सांगरोपम का माना गया है। अवसर्पिणकाल के प्रथम आरे में युगलिकगण सुखी, दीर्घजीवी, ऊँचे और शक्तिशाली थे। इस आरे की सम्पन्नता एवम् सुख का क्रमिक ह्रास द्वितीय आरे में हुआ। तृतीय आरे में चौदह कुलकर हुए तथा प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव का जन्म इस सुषम-दुषम के ८४ लाख पूर्व ३ वर्ष ८३ मास अवशिष्ट रहने पर अन्तिम कुलकर नाभि की पत्नी महदेवी की कुक्षि से इक्ष्वाकुभूमि अयोध्या में हुआ था। शेष तेईस तीर्थंकरों ने अपनी धर्मदेशना और चतुर्विधसंघ की स्थापना चतुर्थ आरे दुषम-सुषम में की। जैन परम्परा में चौबीस तीर्थंकरों के नाम—१ ऋषभ २ अजित, ३ सम्भव, ४ अभिनन्दन, ५ सुमति, ६ पद्मप्रभ, ७ सुपार्श्व, ८ चन्द्रप्रभ, ९ सुविधि अथवा पुष्प, १० शीतल, ११ श्रेयांस, १२ वासपूज्य, १३ विमल, १४ अनन्त १५ धर्म, १६ शान्ति, १७ कुन्धु, १८ अर, १९ मल्लि, २० मुनि सुव्रत, २१ नभि, २२ नेभि, २३ पार्श्व, २४ वर्धमान अथवा महावीर मान्य हैं।

जैन परम्परा के अनुसार सभी तीर्थंकर क्षत्रियवंश में उत्पन्न थे। मुनिसुव्रत और नभि का जन्म हरिवंश में तथा शेष बाईस का जन्म इक्ष्वाकु कुल में हुआ था। उन्नीसवें

तीर्थंकर मल्लिनाथ को श्वेताम्बर परम्परा स्त्री और दिगम्बर पुरुष मानती है, इस मत-वैभिन्न्य का कारण स्त्री के कैवल्यज्ञान प्राप्ति के सम्बन्ध में सैद्धान्तिक मतभेद होता है। प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव का आयु प्रमाण ८४ लाख पूर्व (७० लाख ५६ हजार करोड़ वर्षों का एक पूर्व माना गया है), जिसमें कुमार जीवन २० लाख पूर्व, राज्य शासन ६३ लाख पूर्व एवम् श्रमणावस्था १ लाख पूर्व मानी गई है तथा उनका शरीर प्रमाण ५०० धनुष और निर्वाणस्थल अष्टापद या कैलाश माना जाता है। चौबीस तीर्थंकरों के अन्तरकाल को प्रवचन सारोद्धार और तिलोपपण्णत्ति में अरबों वर्षों का माना है। महावीर और पार्श्वनाथ का अंतरकाल २७३ वर्ष, पार्श्वनाथ एवम् नेमि का अंतरकाल ८४,६५० वर्ष, नेमि और नमि का अंतरकाल ५ लाख वर्ष, नमि और मुनि सुव्रत का अंतरकाल ११ लाख वर्ष माना गया है, जो बढ़ते-बढ़ते एक करोड़ से असंख्यात वर्ष तक उल्लेखित है। तीर्थंकरों का शरीर प्रमाण और वय भी अंतरकाल के अनुपात में बड़ी हुई बताई गई है।

जैन परम्परा में वारह चक्रवर्ती सम्राट-भरत, सगर, मधवा, सनत्कुमार, शान्ति, कुन्धु, अर, सुभौम, पद्म, हरिषेण, जयसेन और ब्रह्मदत्त; नौ बलदेव-विजय, अचल, भद्र, सुप्रभ, सुदर्शन, आनन्द, नन्दनदे, पद्म और राम; नौ वासुदेव-त्रिपृष्ठ, द्विपृष्ठ, स्वयम्भू, पुरुषोत्तम, पुरुषसिंह, पुरुष, पुण्डरीक, दत्त, नारायण और कृष्ण तथा नौ प्रतिवासुदेव-अश्वघोष, तारक, मेरक, मधु-कैटभ, निशुम्भ, बलि, प्रह्लाद, रावण और जरासन्ध; इस प्रकार चौबीस तीर्थंकरों सहित ६३ शलाका पुरुष वर्णित हैं। जैन इतिहास में इन ६३ शलाका पुरुषों के चरित वर्णन की परम्परा भी लोकप्रिय रही है।

जैन परम्परा में संसार की प्रारम्भिक स्थिति में सुख एवम् वैभव के साथ-साथ लोगों की आयु दीर्घ और शक्ति अपरिमित मानी गई है, जिसका शनैः-शनैः ह्रास होता रहा। ब्राह्मण परम्परा में भी सतयुग, त्रेतायुग, कलियुग आदि की मान्यता द्वारा इसी प्रकार की अनुश्रुति को स्थान दिया गया है। ग्रीस और रोम की परम्पराएँ भी प्रारम्भिक युग में इसी प्रकार की सृष्टि का अस्तित्व मानती हैं। भगवान् ऋषभदेव की आयु करोड़ों वर्षों की वर्णित है परन्तु तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ की सौ वर्ष और महावीर की ७२ वर्ष ही आयु-प्रमाण स्वीकार किया गया है। इससे पार्श्वनाथ और महावीर के सम्बन्ध में ऐतिहासिक खोजों की जैन परम्परा से प्रतिकूलता नहीं है।

संसार के अधिकांश धर्मों में अतिशयोक्तिपूर्ण परम्पराओं को मूलाधार माना गया है। जिसके मूल आराध्य को अलौकिक व्यक्तित्व का आगार मानने की स्वाभाविक दुर्बलता निहित है। जैनैत भारतीय धर्मों में भी विभिन्न अनुश्रुतियों का प्राधान्य है यद्यपि वैज्ञानिक कालपद्धति ने शोधकार्य की दृष्टि दी है। ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में प्रत्येक धर्म की प्राचीनता और तदनु रूप मूल्यों के प्रयास अवश्य हुए हैं। जैनधर्म के संस्थापक के रूप में भगवान् महावीर को ही प्रतिष्ठित करने के प्रयास हुए हैं, यद्यपि याकोबी ने पार्श्वनाथ को ऐतिहासिक पुरुष सिद्ध कर शोध कार्य को नवीन दिशा अवश्य दी थी; फिर भी पुरा-तात्विक प्रमाणों के प्रकाश में जैनधर्म की प्राचीनता निश्चित करने की आवश्यकता अपरिहार्य है।

जैन परम्परा एवम् पुरातत्व विज्ञान :

मानव की उत्पत्ति लगभग पैंतीस लाख वर्ष पूर्व अफ्रिका में हुई थी,^५ जबकि भारत में मानव का आविर्भाव मध्य प्लायस्टोसिन काल अर्थात् दो लाख वर्ष पूर्व माना जाता है; इसकी पुष्टि भूगर्भशास्त्र और भारत की हैण्डेक्स और सोहन संस्कृतियों के पुरापाषाणयुगीन औजारों से होती है। भारत में आरम्भिक मानवों के औजार नदीतटों पर मिले हैं, इससे मानव की उत्कर्षमय संस्कृति का क्रमिक विकास ज्ञात होता है। लगभग पच्चीस हजार वर्ष पूर्व मध्यपाषाणयुगीन मनुष्यों ने आखेट के साथ-साथ कंदमूल खाना भी सीख लिया था, परन्तु लघुपाषाणकाल तक मनुष्य शिकारी ही थे, यद्यपि लघुपाषाणयुगीन मानवों को मिट्टी के पात्र बनाना ज्ञात नहीं था। भगवान महावीर के तीन हजार वर्ष पूर्व तक भारतीय मानव को मिट्टी के बर्तन बनाना ज्ञात नहीं था।

पाकिस्तान में क्वेटा के निकट कीली गोलमोहम्मद में सम्पन्न पुरातात्विक उत्खनन से मिट्टी के पात्र रहित ग्राम्य संस्कृति का समय कार्बन-१४ की प्रविधि से ३६६०-८५ ई. पू. और ३५१०-५१५ ई. पू. निश्चित हुआ है, जो कि भारतीय संस्कृति के क्रांतिकारीयुग के प्रथम सोपान की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यहाँ पर इस समय पशुपालन और कृषि का अस्तित्व विदित होता है, परन्तु मिट्टी के पात्र बनाने की कला अज्ञात थी; इस काल को कीली गोलमोहम्मद का कालखण्ड प्रथम कहा जाता है। यहाँ के कालखण्ड-तृतीय में ताँबे का प्रचलन हो चुका था, परन्तु इसके पूर्व प्राक् हड़प्पा (Pre-Harappan) युगीन संस्कृति के केन्द्र कालीबंगा और कोटडिजी में ई. पू. ३००० वर्ष में व्यवस्थित निवास स्थल और मिट्टी के पात्र का अस्तित्व विदित हुआ है। हड़प्पा संस्कृति का विस्तार सिन्ध में मोहनजोदड़ो और चन्हुदाड़ो, पूर्वी पंजाब में रूपड़, उत्तर राजस्थान में कालीबंगा, गुजरात में रंगपुर, लोथल एवम् सोमनाथ तथा उत्तर प्रदेश में आलमगिरपुर तक विदित है। इस नगर-संस्कृति का समय ई. पू. २५०० से १८०० तक रहा, जिसके बाद राजस्थान, मालवा, दक्खन आदि की ताम्राश्मयुगीन संस्कृति, गंगा-यमुना की घाटी में पल्लवित चित्रित सिलेटी पात्रों की संस्कृति, उत्तर पश्चिमी भारत की नवपाषाणयुगीन संस्कृति आदि पर विभिन्न पुरातात्विक उत्खननों और सर्वेक्षणों से प्रकाश गिरा है। भगवान महावीर के पूर्व की इन संस्कृतियों की प्राप्त साधन सामग्री से जैन परम्परा के तुलनात्मक अध्ययन की दिशा में नगण्य शोधकार्य ही हुआ है, इस दिशा में शोधकार्य सम्पादन से जैन इतिहास में नवीन आयाम प्रतिष्ठित हो सकेंगे।

प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव के जन्म और राज्य शासन केन्द्र अयोध्या और इक्ष्वाकु भूमि, प्रथम पारणास्थल हस्तिनापुर तथा उपदेश क्षेत्र गंगायमुना के मैदानी प्रदेश की विभिन्न बस्तियों की प्राचीनता ई. पू. १८०० वर्ष से पहले की ज्ञात नहीं होती; यद्यपि यह तिथि भी आकर-मृदभाण्डों की है, जबकि आर्यों से सम्बद्ध किये जाने वाले चित्रित सिलेटी पात्रों की संस्कृति का समय तो ईसा पूर्व की ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दियाँ ही हैं। बारहवें तीर्थंकर वासपूज्य को छोड़कर शेष द्वितीय तीर्थंकर अजितनाथ से लेकर इक्कीसवें तीर्थंकर नेमिनाथ तक का निर्वाण स्थल सम्भेदशिखर ही रहा है, जो कि तेइसवें तीर्थंकर पार्वनाथ

का भी निर्वाण स्थल मान्य है। वासपूज्य का निर्वाण चम्पा में तथा बाईसव तीर्थकर नेमि अथवा अरिष्टनेमि का निर्वाण जूनागढ़ के निकट गिरनार (रैवतक, उज्जयन्त पर्वत) पर होना जैन परम्परा में माना गया है। कल्पसूत्र में चार तीर्थकर-ऋषभदेव, नेमि पार्श्वनाथ और महावीर का ही विस्तृत चरित वर्णित होना महत्त्वपूर्ण है। जैन परम्परा के अनुसार महावीर का जन्म ई. पू. ६०० और पार्श्वनाथ का उनसे २७ वर्ष पूर्व अर्थात् ई. पू. ६७७ में हुआ था। नेमि और पार्श्वनाथ के जन्मकाल में ८४, ६५० वर्ष का अन्तर निरूपित किया गया है। नेमि को जैन अनुश्रुति वासुदेव कृष्ण के समकालीन मानती है तथा कृष्ण का समय पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार कलिकाल के आरम्भ अर्थात् लगभग ३१०२ ई. पू. माना गया है,^६ यद्यपि अधिकांश विद्वानों के अनुसार महाभारत युद्ध की तिथि ई. पू. ६५० से १४५० के मध्य ही निर्धारित की जा सकती है। इस दृष्टि से पार्श्वनाथ और अरिष्टनेमि के अन्तरकाल के सम्बन्ध में परवर्ती जैन परम्परा को सन्देह की दृष्टि से देखा जाता है। इस सम्बन्ध में जैन एवम् ब्राह्मण का मौलिकता की दृष्टि से तुलनात्मक मूल्यांकन अपेक्षित है।

चौबीस तीर्थकर

सर्वप्रथम 'दृष्टिवाद' के मूल प्रथमानुयोग^७ में चौबीस तीर्थकरों का उल्लेख था, जो कि लुप्त है। जैन परम्परा में अब से प्राचीन उपलब्ध उल्लेख समवाय, कल्पसूत्र, आवश्यक निर्युक्ति और आवश्यक चूर्ण में है। आचार्य शिलांक द्वारा ८६= ई. में लिखित चउपन्न महापुसि चरिय और हेमचन्द्राचार्य के त्रिंशष्टिशालाका पुरुषचरित में तथा दिगम्बर पुराण-ग्रंथ जिनसेन के आदि पुराण और हरिवंश पुराण एवम् गुणभद्र के उत्तरपुराण में चौबीस तीर्थकरों का जीवन चरित विस्तार से वर्णित किया गया है।

तृतीय शताब्दी ईसा पूर्व में रचित कल्पसूत्र ग्रंथ में केवल चार तीर्थकरों का ही चरित वर्णित होने से देश-विदेश के विद्वानगण बौद्धधर्म में मान्य २४ बुद्धों की तरह जैनधर्म के २४ तीर्थकरों को भी कल्पनिक बताने का प्रयत्न करते रहे हैं, यद्यपि कल्पसूत्र में ग्रन्थों का भी उल्लेख है। जैन ग्रंथ भगवतीसूत्र से ज्ञात होता है कि आजीवक मत के संस्थापक मंखलीपुत्र भोशाल भी अपने को चौबीसवां तीर्थकर घोषित कर चुका था यद्यपि अन्य स्रोतों से नन्दवच्छ और किससंकिच्छ नामक दो और आजीवक आचार्यों का ज्ञान होता है। बौद्ध धर्म में भी २४ बुद्धों की परम्परा मान्य है, जिनमें से महावीर के समकालीन शाक्य गौतम बुद्ध को अन्तिम बुद्ध कहा गया है। चन्द्रगुप्त मौर्य के पौत्र अशोक ने तृतीय शताब्दी ई. पू. के मध्य में कनकमुनि बुद्ध का प्राचीन स्तूप धर्मभावना से द्विगुणित करवाया था तथा द्वितीय शताब्दी ई. पू. में निर्मित भरहृतीस्तूपवेष्टनी पर शृंगयुगीन लिपि में सप्तमानुषी बुद्धों के प्रतीक सात वृक्ष अंकित कर परिचय अभिलेख उत्कीर्ण किए गए थे। पाटलिवृक्ष : भगवतो विपसिनो बोधि; पृण्डरीकवृक्ष : भगवतो सिक्कीनो बोधि; शालवृक्ष : भगवतो बेसमुवो बोधि, सिरीषवृक्ष : भगवतो ककुसंधषबोधि, उदुम्बरवृक्ष : भगवतो कोनगस बोधि ; वटवृक्ष : भगवतो कासपस बोधि ; अश्वत्थवृक्ष : भगवतो सकबोधि अर्थात् शाक्य गौतम बुद्ध। द्वितीय शताब्दी तक बौद्धधर्म में २४ बुद्धों की मान्यता दृढ़ हो चुकी थी।

इसी प्रकार विष्णु के २४ अवतारों की कल्पना भी आठवीं शताब्दी में पूर्ण हो चुकी थी, फिर भी समकालीन कलाकारों ने विष्णु दशावतारों के मूर्तिखण्ड ही निर्मित किए थे। जैन परम्परा में मान्य चौबीस तीर्थंकर, बौद्ध एवम् ब्राह्मण मान्यता से प्राचीन हैं। महावीर के समकालीन बौद्ध साहित्य में भी जैनधर्म को प्राचीन धर्म ही माना गया है। पार्श्वनाथ के अनुयायी श्रमणों और महावीर के शिष्यों के पारस्परिक वार्तालापों के उल्लेख बौद्ध साहित्य की तरह जैन साहित्य में भी सुरक्षित हैं। चौबीस तीर्थंकरों की जैन परम्परा ने जैनधर्म को प्रभावित किया था, जिसके पारिणामस्वरूप चौबीस की संख्या को उन्होंने भी अपनाया। जैनधर्म के आदि संस्थापक के रूप में ऋषभदेव की प्रतिष्ठा की परम्परा प्राचीन है, जिसे ऐतिहासिक प्रमाणों के अभाव में भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता, यद्यपि वर्तमान वैज्ञानिक मान्यताओं के प्रकाश में प्रथम तीर्थंकर का समय और परवर्ती जैन साहित्य के तिथिक्रम हेतु आलोचनात्मक मूल्यांकन की दिशा में शोध कार्य अभी भी अपेक्षित है।

आदि तीर्थंकर ऋषभदेव :

जैन परम्परा के अनुसार प्रथम तीर्थंकर एवम् प्रथम जिन तथा जैनधर्म के संस्थापक ऋषभदेव का जन्म अयोध्या के इक्ष्वाकु कुल में हुआ था। इनके पिता अन्तिम कुलकर नाभि और माता मरुदेवी थी। ऋषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र भरत प्रथम चक्रवर्ती सम्राट हुए, जिनके नाम पर इस देश की संज्ञा भारतवर्ष पड़ी। ऋषभदेव ने अशिक्षित एवम् कलाविहीन मानव समुदाय को भोजन बनाना, कृषि, लेखन, मिट्टी के पात्र बनाना, चित्र एवम् मूर्ति आदि विभिन्न आवश्यक और उपयोगी कलाएँ सिखाई थीं। इनके समय विवाह पद्धति, दाह संस्कार, स्तूप निर्माण, उत्सवों आदि का आरम्भ हुआ। पौराणिक साहित्य में मनुवैवस्वत से सम्बद्ध किए जाने वाले समस्त पुनीत एवम् मानव के विकास से सम्बंधित कार्यों के आरम्भ का श्रेय जैन अनुश्रुति के अनुसार भगवान् ऋषभदेव को है। आर्येतर श्रमण संस्कृति से सम्बंधित वैदिक-उल्लेखों को ऋषभदेव के धर्म से सम्बद्ध किया जाता है, यद्यपि इन उल्लेखों का मूल्यांकन आवश्यक है।

ऋग्वेद में उल्लेखित वातरशना मुनि को श्रमण-संस्कृति से तथा वृषभ के उल्लेखों को ऋषभदेव से सम्बंधित किया जाता है। बेबीलोन के राजा हम्मुराबी (ई. पू. २१२३-२०८१) के अभिलेखों; सिन्धुघाटी एवम् सुमेर की सभ्यताओं, ताम्रश्मयुगीन भारतीय संस्कृतियों आदि से कृषिकर्म में महत्ता के कारण वृषभ का विशिष्ट महत्व ज्ञात है। ऋग्वेद के समकालीन सिन्धुघाटी सभ्यता से प्राप्त बहुसंख्यक बैल की मृणमयमूर्तियों और मुद्रांकित श्रेष्ठ वृषभाकृतियों से भी इस युग में वृषभ पूजा की लोकप्रियता ज्ञात होती है, अतएव ऋग्वैदिक वृषभ से सम्बद्ध उल्लेखों को प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव से अभिन्न बताना उचित प्रतीत नहीं होता। तैत्तिरीय आरण्यक में वातरशना मुनियों का उल्लेख श्रमणों से सम्बंधित प्रतीत होता है, यद्यपि यह आरण्यक भगवान् पार्श्वनाथ की धर्मदेशना के समय से प्राचीन नहीं है।

इसी प्रकार ऋग्वेद में उल्लेखित अर्हन् की श्रेष्ठता को अर्हत्^{१०} से सम्बंधित किया जाना भी युक्ति-युक्त नहीं है। अर्हत् का आदर्श जैन परम्परा और हीनयान बौद्धमत में मान्य अवश्य रहा है, परन्तु जैनधर्म में अर्हत् का आदर्श बौद्धमत के समान स्वीकार नहीं

किया गया है। ऋग्वेद में उल्लेखित केशी^{११} के विवरण को ऋषभदेव के केशी नाम से अभिन्न मानना भी समीचीन नहीं है। शतपथ ब्राह्मण, तैत्तिरीय आरण्यक आदि के विवरणों के अतिरिक्त अथर्ववेद के त्रात्यखण्ड के वर्णन को भी ऋषभदेव के श्रमणधर्म से सम्बंधित करने का प्रयास किया जाता है, जिसे स्वीकार करना सम्भव नहीं है। आठवीं शताब्दी के भागवत पुराण^{१२} में भी इन्हें वातरशना श्रमणों के धर्म का संस्थापक माना है तथा इन्हें सम्पूर्ण वेद, देवता, ब्राह्मण और गौश्रों का परम गुरु और उनके मंगलमय चरित का श्रद्धापूर्वक एकाग्रचित्त से सुनने और सुनाने वालों को भगवान् वासुदेव का अनन्य भक्त घोषित किया है।^{१३}

भागवतपुराण जैनधर्म के परम उत्कर्ष और विस्तार के अतिरिक्त जैन संस्कृति के स्वर्णिमकाल के बाद का है। एतदर्थ जैन परम्परा को यथावत स्थान देकर ऋषभदेव के चरित का विवरण देते हुए पुराणकार ने उन्हें विष्णुका अवतार घोषित कर दिया था। इसमें यत्रतत्र जैन परम्परा से इतर मान्यताएँ एवम् कथानक भी सम्मिलित हैं। विष्णु पुराण में ऋषभ को ब्रह्मा से उत्पन्न स्वयंभुव के पुत्र प्रियव्रत के प्रपौत्र और आग्नीध्र के पौत्र नाभि के पुत्र के रूप में वर्णित किया गया है।^{१४}

जैन अनुश्रुति के अनुसार ही जैनैत्तर परम्पराओं में भी ऋषभदेव के जीवनचरित से सम्बन्धित विवरण उपलब्ध हैं। महायान बौद्धग्रन्थ 'आर्यमंजुश्री मूलकल्प'^{१५} में नाभिपुत्र ऋषभ और ऋषभपुत्र भरत का राजा के रूप में उल्लेख है, परन्तु ब्राह्मण पौराणिक परम्परा में भगवान् ऋषभदेव का विस्तृत चरित वर्णित है। ये जैनैत्तर उल्लेख जैन परम्परा से परवर्ती हैं तथा इन पर जैन परम्परा का स्पष्ट प्रभाव है। जीवन्तधर्म के रूप में जैनधर्म के प्रसार एवम् लोकप्रियता के कारण सहिष्णुतावश ब्राह्मण अनुश्रुतियों में ऋषभदेव के व्यक्तित्व की श्रेष्ठता के दर्शन यत्रतत्र होते हैं। इन जैनैत्तर परम्पराओं के आलोचनात्मक अध्ययन से तत्कालीन समाज में जैनधर्मावलम्बियों की प्रतिष्ठा और बहुलता विदित होती है।

विष्णुपुराण^{१६} में ऋषभ को ब्रह्मा से उत्पन्न प्रथम मनु स्वयंभुव के पुत्र प्रियव्रत के प्रपौत्र और आग्नीध्र के पौत्र तथा नाभि के पुत्र के रूप में उल्लिखित किया है, यद्यपि ऋषभ की माता मरुदेवी और पुत्र भरत का नाम जैन परम्परा के अनुसार ही दिया है, परन्तु ऋषभ को विविध यज्ञों का कर्ता तथा भरत को राज्य सौंपकर तपस्या हेतु पुलहाश्रम की ओर जाने का विवरण दिया गया है। मार्कण्डेय, कूर्म, अग्नि, वायु आदि पुराणों में भी ऋषभदेव और उनके ज्येष्ठ पुत्र भरत का उल्लेख है तथा विष्णुपुराण के अनुसार इस देश का भारतवर्ष नामकरण भी इसी भरत के नाम से प्रसिद्ध होना स्वीकार किया गया है। श्रीमद् भागवतपुराण में ऋषभदेव का विस्तृत चरित वर्णित है, यद्यपि इन्हें विष्णु के अवताररूप में उल्लेखित किया गया है। शिवपुराण^{१७} में तो ऋषभदेव को भगवान् शिव का अवतार स्वीकार कर चरित वर्णित किया गया है, जो कि भागवतपुराण का प्रतिकूल प्रभाव है। इन पौराणिक विवरणों से जैनैतर समुदाय में ऋषभदेव की प्रतिष्ठा देवाधिदेव के रूप में संस्थापित हो जाने का पता चलता है।

इन पौराणिक आख्यानों में विष्णुपुराण का विवरण प्राचीन है, जिसको परम्परागत रूप में परवर्ती पुराणों ने भी अपना लिया है। भागवतपुराण में गौतमबुद्ध के समान ऋषभदेव को विष्णु के अवतारों में से एक अवतार मानना ब्राह्मणोत्तर धर्मों को पचा लेने की प्रक्रिया का परिणाम था, परन्तु जैनधर्म की प्रतिष्ठा जनधर्म के रूप में ही जाने तथा राज्याश्रय प्राप्त होते रहने और आचार प्रधान धर्म होने से बौद्धधर्म की तरह जैनधर्म का भारत में ह्रास नहीं हो सका। यह कहना कठिन है कि ऋषभदेव का विष्णु के अवताररूप में प्रतिष्ठित कर लेने के पुराणकार के प्रयास का जैनधर्मानुयायियों पर प्रभाव नहीं गिरा होगा। उत्तर भारत की कुछ जातियों (यथा-अग्रवाल) में जैन, वैष्णव, शैव, शाक्त आदि विभिन्न मतों को मानने वाले वर्गों के मूल कारणों में भागवत एवम् शिव पुराणों में पुष्ट की गई मान्यताएँ भी एक कारण रही होगी। इस दृष्टि से अग्रवाल जाति के धार्मिक विश्वासों के सम्बन्ध में शोध कार्य अपेक्षित है।

ब्राह्मण परम्परा में भागवतपुराण में ऋषभदेव का विस्तृत चरित वर्णित है, उसमें यत्रतत्र जैन परम्परा से इतर मान्यताएँ और विवरण है। इसमें ऋषभदेव के माता-पिता का नाम मरुदेवी और महाराज नाभि दिया है।^{१८} परन्तु पत्नी का नाम इन्द्र द्वारा दी गई कन्या जयन्ती कहा गया है,^{१९} जबकि जैन परम्परानुसार इन्द्र ने सुनन्दा एवम् सुमंगला से भगवान् ऋषभदेव का विवाह रचाया था, जिसे पृथ्वी पर विवाह-संस्कार का आरम्भ माना गया है।^{२०} जैन-परम्परा के अनुसार ऋषभदेव के चिन्ह पुराणकार ने वर्णित किये हैं, परन्तु विष्णु का अवतार मानने के कारण वज्र, अंकुश, चक्र, आदि विष्णु के चिन्ह भी माने गये हैं।^{२१} पुराणकार ने ऋषभदेव को आनन्दानुभव-स्वरूप और साक्षात् ईश्वररूप तथा सत्यधर्म की शिक्षा देने वाला बताया है। जो लोग धर्म का आचरण करके तत्त्वचिन्तन से अनभिज्ञ थे, उन्हें ऋषभदेव ने सत्यधर्म का उपदेश देकर सन्मार्ग पर अग्रसर किया।^{२२} ऋषभ भागवतपुराण में चराचर भूतों में व्याप्त और अगम्य परमात्मा भी कहा गया है।^{२३} जैन-परम्परा में ऋषभदेव की वर्णित अपरिग्रहवृत्ति को व्यक्त करते हुए कहा गया है कि इन्होंने केवल शरीर मात्र का ही परिग्रह रखा और सब कुछ त्यागकर विरक्त हो गए।^{२४} ऋषभदेव के तप की पराकाष्ठा का वर्णन करते हुए पुराणकार ने वर्णित किया है कि तपस्या के कारण उनका शरीर कृश हो गया और शिराएँ तक दृष्टिगोचर होने लगी।^{२५} भागवत में सृष्टि रूप से ऋषभ को सम्पूर्ण वेदों, देवताओं, ब्राह्मणों और गौओं का परमगुरु तथा उनके मंगलमय चरित को श्रद्धापूर्वक एकाग्रचित्त से सुनने और सुनाने वालों को भगवान् वासुदेव का अनन्य भक्त घोषित किया है,^{२६} जो कि भगवान् ऋषभदेव को विष्णु के अवतार मानने का परिणाम था।

उपर्युक्त पौराणिक विवरण जैनधर्म की पुष्ट मान्य परम्पराओं से प्रभावित है। सम्भवतः ऋषभदेव का जैन-कथानक पौराणिक मनु के समान प्रतिष्ठित होने तथा उनका वंश अयोध्या का इक्ष्वाकु कुल ही माने जाने की जैन मान्यताओं ने पुराणकारों को जिनधर्म के आदि संस्थापक के प्रति आकर्षित किया होगा। बुद्ध की तरह ऋषभदेव को भी पुराणकार ने विष्णु का अवतार घोषित किया था, परन्तु जैनधर्म की सबल आचार-परम्परा एवम् चतुर्विध संघ-शासन के कारण बौद्धधर्म के समान जैनधर्म का अहित न हो सका। विष्णु के

दशावतार के कई मूर्तिखण्ड मिले हैं जिनमें बुद्ध को तो स्थान दिया जाता रहा, परन्तु ऋषभदेव को विष्णु की मूर्तियाँ और दशावतार-प्रभावलियों पर स्थान नहीं दिए जाने का कारण भी इन पौराणिक मान्यताओं का जनप्रिय नहीं होना ही प्रतीत होता है। जैन परम्परा में प्रथम जिन, प्रथम तीर्थंकर और जैनधर्म के संस्थापक के रूप में ऋषभदेव की प्रतिष्ठा के परिचायक ये विभिन्न जैनतर उल्लेख हैं, यद्यपि उपर्युक्त सभी उल्लेख जैन ग्रंथों से प्रभावित और उनसे परवर्ती हैं।

ऋग्वेद एवम् परवर्ती वैदिक उल्लेखों को ऋषभदेव से सम्बन्ध मानने में विद्वान्-गणों में मतैक्य नहीं है। वैदिक साहित्य अथवा महावीर के समकालीन बौद्ध साहित्य में ऋषभदेव का जैनधर्म के संस्थापक के रूप में उल्लेख नहीं होने से मतवैभिन्य को बल मिला। इनका सर्वप्रथम चरित वर्णन जैन कल्पसूत्र में उपलब्ध है तथा इसे प्राचीन जैन परम्परा से सम्बन्धित उल्लेख मानने का परामर्श दिया जाता रहा है। ऋषभदेव से सम्बन्ध किये जाने वाले नगरों, बस्तियों आदि के आधार पर वैज्ञानिक दृष्टिकोण से इनका समय निर्धारित होना शेष है; परन्तु ऐसा कोई पुष्ट प्रमाण भी उपलब्ध नहीं है, जिसके आधार पर जैन अनुश्रुतियों में वर्णित ऋषभदेव को प्रथम जिन, प्रथम तीर्थंकर और जैनधर्म का संस्थापक मानने में हिचकिचाहट हो। वर्तमान जैन-शासन के संस्थापक भगवान महावीर को जैन परम्परा मानती है, अतएव जैन स्रोतों से इतर सन्दर्भों के आधार पर ऋषभदेव की ऐतिहासिकता सिद्ध करना सम्भव नहीं है, यथार्थ में जैन परम्परा स्वयम् उन्हें प्राग् ऐतिहासिक मानती है।

अरिष्टनेमि :

भगवान ऋषभदेव के पश्चात् बाईसवें तीर्थंकर अरिष्टनेमि अथवा नेमि का जीवनचरित कल्पसूत्र में वर्णित है। नेमि के पिता समुद्रविजय को यदुवंशी महाराज अन्धवृष्णि का ज्येष्ठ पुत्र कहा गया है, जो यमुना के तट पर बसे शोरिपुर के शासक थे। नेमि की माता का नाम शिवादेवी था, जिन्होंने पुत्र के जन्म के पूर्व स्वप्न में एक नेमि और रिष्ठयुक्त चक्र आकाश में उड़ता हुआ देखा था, फलतः नवजात पुत्र का नामकरण अरिष्टनेमि किया गया।

जैन अनुश्रुति के अनुसार समुद्रविजय के अनुज वसुदेव के ही ज्येष्ठ पुत्र वासुदेव कृष्ण थे। कंस के संहार के पश्चात् मगधराज जरासंध के आक्रमण के भय से श्रीकृष्ण अपने बंधु-बांधवों सहित द्वारिका में राज्य स्थापित कर रहने लगे थे। समुद्रविजय के चचेरे भाई उग्रसेन की कन्या राजमती से श्रीकृष्ण ने अरिष्टनेमि का विवाह सम्बन्ध निश्चित किया था। सम्भवतः जरासंध के भय से उग्रसेन भी अन्य यादवों के साथ द्वारिका में ही रहने लगे थे। अरिष्टनेमि की बारात उग्रसेन के महल में सज्जित विवाह-स्थल की ओर शोभायात्रा में जा रही थी, तभी विवाह-भोज के लिए एकत्रित असंख्य पशु-पक्षियों के वध की कल्पना मात्र से भगवान नेमि कर्णार्द्र हो गए और शोभायात्रा छोड़कर संयम लेने को तत्पर हो गए। उन्होंने संसार त्यागकर द्वारिका के निकट रैवतक

(उज्जयंत) पर्वत पर स्थित सहस्रामवन में प्रव्रज्या ग्रहण की। ५४ दिन की कठोर तपस्या द्वारा केवलज्ञान प्राप्त कर भगवान् अरिष्टनेमि ने एक हजार वर्ष की आयु में उज्जयंत पर्वत पर ही निर्वाण प्राप्त किया था।

छान्दोग्य उपनिषद् में देवकी के पुत्र कृष्ण को ऋषि घोर अंगिरस का अनुयायी वर्णित किया है, जिन्होंने कृष्ण को तप, दान, आर्जव, अहिंसा और सत्यवचन की महिमा समझाई थी।^{३०} श्रीकृष्ण ने गीता में भी इन्हीं नैतिक तत्वों को धर्म का मूलाधार निरूपित किया है। जैन परम्परा में वासुदेव कृष्ण और बाईसवें तीर्थंकर अरिष्टनेमि को चचेरा भाई एवम् समकालीन वर्णित किया है। अरिष्टनेमि ने श्रीकृष्ण को उपदेश देकर अपना अनुयायी बनाया था, फलतः विद्वानगण उपर्युक्त घोर अंगिरस की अभिन्नता अरिष्टनेमि से मानने का परामर्श देते हैं। छान्दोग्य उपनिषद् की तिथि भगवान् महावीर की समकालीन अथवा कुछ पहले की मानी जाती है, परन्तु जैन परम्परा में अरिष्टनेमि का उल्लेख घोर अंगिरस नाम से अज्ञात है। श्रीकृष्ण की तिथि भी अनिश्चित है तथा सामान्यतः उनका समय ईसा पूर्व दसवीं शताब्दी से पन्द्रहवीं शताब्दी के मध्य माना जाता है^{३१}, अतएव जैन परम्परा का इस दृष्टि से मूल्यांकन किया जाना चाहिए। भगवान् अरिष्टनेमि के प्रभाव से पश्चिमी भारत में जैनधर्म अत्यधिक लोकप्रिय हुआ तथा यादव कुल के बहुसंख्यक क्षत्रियों ने संसार त्यागकर मुक्ति हेतु कठोर तप किए। जैन परम्परा और पौराणिक ब्राह्मण परम्परा में कृष्ण से सम्बन्धित विवरणों में समानता है, फिर भी महाभारत युद्ध के नायक श्रीकृष्ण के साथ अरिष्टनेमि की तिथि मान्य करने में जैन परम्परा से प्रतिकूल परिणाम ज्ञात होंगे। जैन आगम साहित्य में राजमती के कथानक को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है।^{३२} तथा प्राचीनता की दृष्टि से अरिष्टनेमि से सम्बन्धित ये विवरण उल्लेखनीय हैं। इनकी परम्परा भी जैनतर विवरणों से स्वतन्त्र ज्ञात होती है।

प्राग्वैदिक धर्म :

विद्वानों का एक वर्ग जैनधर्म को वेदों से प्राचीन एवम् आर्यतर धर्म स्वीकार करने का आग्रह करता है। श्री जी. सी. पाण्डे का विश्वास है कि वैदिक काल में प्रचलित यज्ञ विरोधी भावना का मूलाधार हिंसा विरोधी वर्ग का प्रभाव था। जैनधर्म का प्रेरणास्रोत वेदों से इतर एवम् प्राचीन यज्ञविरोधी मान्यताएँ ही रही होंगी। मोहनजोदड़ो एवम् हड़प्पा की नगर सभ्यता के उत्खनन से प्राप्त कुछ सामग्री श्रमण अथवा जैन परम्परा के अनुरूप^{३३} मानने के भी प्रयास हुए हैं। यहाँ से प्राप्त कायोत्सर्ग नग्न मानव मूर्तियों की कुषाणकाल में निर्मित जैन तीर्थंकर मूर्तियों से समानता प्रकट होती है। इन उत्खननों में कुछ मूर्तियाँ पद्मासन मुद्रा में भी मिली हैं। कुछ मूर्तियाँ नाग-मस्तकों वाली भी मोहन जोदड़ो से मिली हैं। ये नाग-मस्तक वाली मूर्तियाँ वैदिक सभ्यता से प्राचीन नागपूजक कबीले से सम्बद्ध मानी गई हैं। पार्श्वनाथ के अतिरिक्त सप्तम तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ के मस्तक पर भी नागफण परवर्ती मूर्तियों में बनाया जाता रहा है। सिन्धु घाटी की नगर सभ्यता में प्राप्त इन मूर्तियों को जैन तीर्थकारों की मूर्तियाँ मानने का आग्रह ही सम्पूर्ण सभ्यता के परिवेश में हास्यास्पद है। यहाँ की धार्मिक मान्यताओं

और उनसे सम्बद्ध साधन सामग्री का श्रमण संस्कृति से सम्बन्ध स्थापित करना भी मृगतृष्णा मात्र है।

जैन परम्परा से स्पष्टतः ज्ञात होता है कि सभी तीर्थकरगण आर्यकुलों और आर्य राज्यों से ही सम्बन्धित थे, अतएव किसी आर्येतर संस्कृति से जैनधर्म का सम्बन्ध जोड़ना उचित नहीं है। वेदों के आलोचनात्मक अध्ययन से स्पष्ट है कि उदार और अनुदार विचारधाराएँ अनवरत बनी रहीं, जिसके परिणामस्वरूप ही समय-समय पर हिंसक एवम् भौतिक सुख से सम्बन्धित यज्ञों का विरोध और ज्ञानपक्ष की उच्चता का प्रतिपादन होता रहा। वेदों में उल्लेखित वातरशन, मुनि, यति, श्रमण, केशी, ब्राह्म्य, अर्हण, शिश्नदेव आदि सार्थक शब्दों को वेदविरोधी श्रमण-मान्यताओं से सम्बन्धित करने के सबल आधार नहीं हैं। वेदों में वर्णित 'मुनि' का अलौकिक व्यक्तित्व और ब्राह्म्य का विवरण तथा तैत्तरीयआरण्यक^{१३} में उल्लेखित वातरशन ऋषि एवम् श्रमण आदि आर्येतर मान्यताओं से सम्बन्धित अवश्य है, परन्तु इन समस्त उल्लेखों को जैनधर्म से यथावत् सम्बन्धित करना युक्तियुक्त नहीं है। वेद विरोधी मान्यताओं से सम्बन्धित आर्यों को भी इनमें शूद्र एवम् ब्राह्म्य माना गया है, 'आर्य' शब्द तो वेदों में संस्कृति सूचक है, अतएव आर्य संस्कृति से इतर आर्य समुदाय को भी हेय माना जाना आश्चर्यजनक नहीं है।

पंचविश ब्राह्मण^{१४} में ब्राह्मणों की विशेषताओं सहित वितरण है— इसमें उन्हें वेदों का अध्ययन नहीं करने वाले और वैदिक साहित्य में प्रतिपादित यम नियमों का विरोधी बताया गया है। ब्राह्मणों को शूद्र उच्चारण नहीं करने और वेदेतर भाषा बोलने वाले भी कहा गया है। सम्भवतः यह भाषा प्राकृत रही हो। उपनिषदों^{१५} में श्रमण का विवरण और वैदिक साहित्य में इन्द्र विरोधी चमत्कारी यतियों का वर्णन है, जिनके शरीर को शृगालोको फेंक देने का उल्लेख है। अर्हत् के ऋग्वेदिक उल्लेख को^{१६} अर्हत् के आदर्श से सम्बन्धित करना सम्भव नहीं है।

वस्तुस्थिति तो यह है कि प्राङ्वैदिकयुग में जैनधर्म के अस्तित्व से सम्बद्ध विवरण सन्देहास्पद है, परन्तु वैदिक साहित्य में वेद एवम् इन्द्र विरोधी जन समुदाय से सम्बन्धित श्रमण, यति, ब्राह्म्य, वातरशन, मुनि आदि उल्लेखों से वेदों में प्रतिबिम्बित आर्यों की धार्मिक मान्यताओं की प्रतिद्वन्द्वी विचारधारा का सबल अस्तित्व एवम् जन प्रतिष्ठा का ज्ञान होता है। मौलिक विचाराधारा एवम् मान्यताओं तथा यज्ञ विरोधी मुखरता के कारण इस आर्येतर वैचारिक परम्परा को जैनधर्म के निकट मानना असम्भव नहीं है। ज्ञान एवम् कर्म की प्रधानता, आत्मा के अस्तित्व, वर्ण विरोध आदि मान्यताएँ जैन सिद्धान्तों के निकट है, यद्यपि भगवान् पार्श्वनाथ के समकालीन एवम् परवर्ती वैदिक साहित्य में इन मान्यताओं के उल्लेखों को स्वाभाविक माना जाना चाहिए।

एच याकोबी^{१७} ने जैन दार्शनिक मान्यताओं के आधार पर जैनधर्म की प्राचीनता व्यक्त करने का प्रयास किया है। जैनदर्शन में जीव की मान्यता का विस्तार अनुपम है। एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय रूप में जीवों का विभाजन तथा पृथ्वी के अतिरिक्त

जल, अग्नि, हवा तक में जीव का अस्तित्व स्वीकार करने से प्रकट होता है कि जैनधर्म का प्रादुर्भाव उस समय हो चुका था जब कि उच्च धार्मिक विश्वासों ने भारतीयों को प्रभावित नहीं किया था। जैन तत्त्वमीमांसा के विकास को भी याकोबी जैनधर्म की प्राचीनता का प्रतिपादक मानते हैं।

पार्श्वनाथ की ऐतिहासिकता।

एच. याकोबी^{३८} प्रभृति विद्वानों ने जैन परम्परा का बौद्ध स्रोतों से तुलनात्मक अध्ययन करके पार्श्वनाथ की ऐतिहासिकता प्रमाणित की है तथा उन्हें ही जैनधर्म के आदि संस्थापक के रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रयास भी किया है। महावीर के समय में जैनेतर स्रोतों से पार्श्वनाथ के चातुर्याम धर्म के अनुयायियों का भी ज्ञान होता है। बौद्ध त्रिपिटक साहित्य में निर्ग्रन्थों के धर्म को चातुर्याम धर्म के नाम से भी सम्बोधित किया है जो कि जैन परम्परा के अनुरूप है। गौतमबुद्ध के विरोधी एवम् प्रतिद्वन्द्वी धर्मों में निर्ग्रन्थों के धर्म को बौद्ध ग्रन्थों में महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है, जो कि जैनधर्म की तत्कालीन समाज में प्रतिष्ठा का भी द्योतक है। बौद्ध विवरणों के अनुसार मंखली गोशाल ने मानव समुदाय को छः वर्गों में विभक्त किया था, जिनमें तृतीय वर्ग में निर्ग्रन्थों को रखा गया था, इससे भी निर्ग्रन्थों की एक प्राचीन धर्म के रूप में प्रतिष्ठा एवम् लोकप्रियता ज्ञात होती है। मज्झिम निकाय में बुद्ध और सकताल का वार्तालाप वर्णित है। सकताल का पिता निर्ग्रन्थ मतावलम्बी था, परन्तु वह स्वयम् जैन नहीं था। इस वार्तालाप से निर्ग्रन्थ धर्म तो प्राचीन और बौद्धधर्म नवघोषित प्रकट होता है। जैन स्रोतों के अतिरिक्त बौद्ध त्रिपिटकों में भी महावीर एवम् पार्श्वनाथ के अनुयायियों में परस्पर शंकासमाधानार्थ वार्तालाप के विवरण उल्लिखित हैं, क्योंकि प्रारम्भ में पार्श्वानुयायीगण महावीर शासन को स्वीकार नहीं करते थे। गौतम इन्द्रभूति और केशी का संवाद महावीर से पूर्व निर्ग्रन्थ धर्म के अस्तित्व और पार्श्वनाथ की जीवन्त परम्परा का श्रेष्ठ उदाहरण है।

विभिन्न स्रोतों से उपलब्ध जानकारी से पार्श्वनाथ की ऐतिहासिकता प्रकट होती है, परन्तु उनके जीवन चरित के सम्बन्ध में जैनेतर स्रोतों से कोई जानकारी नहीं मिलती। कल्पसूत्र से ज्ञात होता है कि पार्श्वनाथ बनारस के राजा अश्वसेन की रानी वामा से उत्पन्न पुत्र थे। अश्वसेन को क्षत्रिय एवम् इक्ष्वाकुवंशज माना गया है, जबकि पौराणिक साहित्य से अश्वसेन नामक एक नाग राजा का ही ज्ञान होता है। पुराणों में उल्लिखित नागराज अश्वसेन की पहिचान पार्श्वनाथ के पिता से नहीं की जा सकती, यद्यपि पार्श्वनाथ से सम्बद्ध की जाने वाली परम्पराओं के आधार पर इस अभिन्नता को मान्य करने का परामर्श दिया जाता है। पार्श्वनाथ का जन्म ई. पू. ८७७ में माना जाता है क्योंकि वे शतायु थे और महावीर से २७७ वर्ष पूर्व उनका जन्म जैन परम्परा मानती है।

पार्श्वनाथ के अलौकिक व्यक्तित्व से सम्बन्धित कई अनुश्रुतियाँ उपलब्ध हैं। पार्श्व नामकरण का कारण उनको माता वामा को अन्धेरे में अपने पार्श्व में कुण्डली मारकर बैठे एक काले फणधर सर्प को देखना ही बताया गया है। अपने बचपन में भी पार्श्वनाथ ने

गम्भीर खतरे का सामना कर एक सर्प की रक्षा की थी। एक ब्राह्मण तापस कमठ के अलाव में जल रहे लकड़ी के टुकड़े में छिपे सर्प की पार्श्वनाथ ने रक्षा की थी, जिसने मृत्यु के समय पार्श्वनाथ का प्रतिबोध पाकर धररोन्द्र देवता की योनि प्राप्त की और तत्पश्चात् अपने फनों का छत्र बनाकर भयंकर वर्षा एवम् तूफान से पार्श्वनाथ की रक्षा की थी।

पार्श्वनाथ का विवाह कुशस्थल के राजा प्रसेनजित की पुत्री प्रभावती से हुआ था पार्श्वनाथ उदार एवम् परोपकारी होने से लोकप्रिय थे, फलतः उन्हें पुरीषादानीय^{१९} कहा गया है। कुमारवस्था से तीस वर्ष की आयु तक सुख एवम् वैभव का उपभोग कर पार्श्वनाथ ने दीक्षा ग्रहण कर ली तथा ८४ दिन की घोर तपस्या के पश्चात् कैवल्यज्ञान प्राप्त कर अपनी धर्मदेशना द्वारा कई त्रसितों और मुमुक्षुओं को सत्य मार्ग पर आरूढ़कर कैवल्य और मोक्ष की ओर उन्मुख किया।

पार्श्वनाथ ने अपने अनुयायियों हेतु चार यमों—अहिंसा, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह को अनिवार्य घोषित किया था। एच याकोबी^{२०} का विचार है कि बौद्ध साम फलसुत्त में महावीर द्वारा प्रचारित सिद्धान्तों के विवरण को पार्श्वनाथ के अनुयायियों से सम्बन्धित ही माना जाना चाहिए, यद्यपि चातुर्याम संवर के उल्लेख मात्र से इस निष्कर्ष पर पहुँचना कठिन है। महावीर ने अपरिग्रह, आत्मानुशासन और धैर्य को चातुर्याम धर्म पर आरूढ़ होने हेतु अनिवार्य माना था, ताकि संयम मार्ग पर अग्रसर होकर पापकर्मों का क्षय किया जा सके।

परवर्ती जैन लेखकों के अनुसार गांधार के राजा नग्नजित, विदेह के राजा निमि, पांचाल के शासक दुर्मुख, विदर्भ के राजा भीम और कर्लिंग के शासक करकण्डु ने जैन अनुशासन को स्वीकार किया था।^{२१} पार्श्वनाथ का जीवनकाल ई. पू. ८७७ से ई. पू. ७७७ था और ऐतिहासिक दृष्टिकोण से भी महावीर के पूर्ववर्ती तीर्थंकर मान्य किये जाने से इन शासकों का समय महावीर की धर्मदर्शना के पहले अर्थात् मोटे रूप से ई. पू. ८४२ से ई. पू. ६०० के बीच माना जा सकता है, यद्यपि अन्य किसी स्रोत से इन जनपदीय शासकों के सम्बन्ध में जानकारी अनुपलब्ध है।

मगध महाजनपद एवम् उससे सम्बद्ध क्षेत्रों में पार्श्वनाथ के अनुयायियों की संख्या विशाल थी। श्री महावीर के पिता स्वयम् पार्श्वनाथ के धर्म के अनुयायी थे^{२२} और उनके वंशजातृक क्षत्रिय को प्रतिष्ठित माना जाता था। महावीर के माता पिता ने पार्श्वनाथ द्वारा प्रतिपादित निर्ग्रन्थ सिद्धान्तानुसार ही तपस्यापूर्वक जीवनत्याग किया था। उत्तराध्ययनसूत्र^{२३} में वर्णित पार्श्वनाथ परम्परा के आचार्य केशी और महावीर के गणधर गौतम के संवाद से प्राचीन और नवीन निर्ग्रन्थ परम्परा की जीवन्तता स्पष्ट है। भगवतीसूत्र^{२४} में पार्श्वनाथ के अनुयायी श्रावक कालासवेसिययुत्त एवम् महावीर के अनुयायी के बीच हुए विवाद का रोचक वर्णन है। नामधम्मकहाओ^{२५} से ज्ञात होता है कि काली नामक वृद्ध महिला पार्श्वनाथ के मत में दीक्षाग्रहण कर साध्वियों के प्रधान पुष्पचूला के अनुशासन में सम्मिलित हुई थी। उप्पला की दो भगिनियों ने पार्श्वनाथ के मत में दीक्षाग्रहण करने के पश्चात्

कठोर जीवनयापन को सहन नहीं कर पाने के कारण वे ब्राह्मण धर्मानुयायी परिव्राजिकाएँ बन गई थीं। पार्श्वानुयायी मुनिचन्द्र 'कुमाराय सन्निवेस' में एक कुम्हार की दूकान में अपने शिष्यों सहित ठहरे थे। विजया एवम् प्रगभा नामक पार्श्व मतानुयायी श्राविकाओं ने निग्रन्थ मत से परिचित होने के कारण कूविय सन्निवेस में महावीर और गोशाल की द्वार-रक्षकों से रक्षा की थी।^{१६} भगवतीसूत्र^{१७} में पार्श्वानुयायी श्रावक गांगेय द्वारा वाणियग्राम में चतुर्थाधर्म के स्थान पर महावीर के पञ्चमहाव्रतों को स्वीकार करने का विवरण है। पुण्डरिय द्वारा पार्श्व मत को स्वीकार करने^{१८}, तुंगिय नगर में पार्श्वमतानुयायी ५०० साधुओं के आने,^{१९} विभिन्न गृहस्थों द्वारा पार्श्व के अनुशासन को स्वीकार करने^{२०} आदि विभिन्न वर्णनों से महावीरयुग में पार्श्वनाथ के मत की लोकप्रियता एवम् प्रचार ज्ञात होता है। रायपसनेयसूत्र^{२१} में पार्श्वनाथ के अनुयायी केशी द्वारा सेयविया में पएसि के साथ आत्मा और शरीर की पहिचान के सम्बन्ध में वार्तालाप करने का वर्णन उपलब्ध है। पार्श्वनाथ के एक अनुयायी उदक को गणधर गौतम ने सफलतापूर्वक महावीर के धर्म की और उन्मुख कर लिया था। उदक-गौतम संवाद से ज्ञात होता है कि पार्श्वनाथ के अनुयायी 'निगुंठ कुमारपुत्त' तथा महावीर अनुयायी 'निगुंठ नाथपुत्त' की संज्ञा से सम्बोधित किये जाते थे।

लगभग ७० वर्ष तक अपने उपदेशामृत द्वारा जनकल्याण का मार्ग उद्घोषित करते हुए पार्श्वनाथ ने १०० वर्ष की आयु में सम्मेदशिखर पर्वत पर निर्वाण प्राप्त किया। बिहार के हजारी बाग जिले में स्थित इस निर्वाणस्थल को आजकल पार्श्वनाथ-गिरि भी कहा जाता है।

पार्श्वनाथ ने अपने धर्म संघ को चतुर्विधसंघ में सुसंगठित कर अद्भुत एवम् परिपक्व व्यवस्था का स्वरूप प्रदान किया था। फलतः महावीर के जीवनकाल तक उनके संघ का सुसंगठित रूप अगुण्ण बना रहा। पार्श्वनाथ के आठ गण थे, जिनके आठ गणाधर—शुभ, आर्यघोष, वशिष्ठ, ब्रह्माचरित, साम्य, श्रीधर, वीरभद्र एवम् यशस् थे। पार्श्वानुयायी चतुर्विध संघ में १६,००० साधुवर्ग के प्रधान आर्यदत्त, ३८,००० साध्वियों की प्रधान पुष्पचूला; १,६४,००० श्रावकों के प्रधान सुकृत और ३,३६,००० श्राविकाओं की प्रधान सुनन्द्रा का ज्ञान कल्पसूत्र से होता है। श्रमणों में ३५० श्रमणगण चार पूर्वों के ज्ञाता; १४०० अवधिज्ञानी; १००० केवलज्ञानी, ११०० वैकियलब्धिधारी, ३०० वादी; १००० पुरुष एवम् २,००० महिलाएँ ऐसे थे जिन्हें सिद्धि प्राप्त हो चुकी थी, ७५० मनः पर्यायज्ञानी, ६०० वादी एवम् १२०० अनुत्तरोपपातिक अपने अन्तिम जन्म में थे। दिगम्बर परम्परा में कुछ वैभिन्न्य है—वे दसगण और दसगणाधर मानते हैं, जिसमें स्वयंभू प्रधान थे। इसी प्रकार दिगम्बर श्रमणसंख्या १,२६,००० और साध्वियों की संख्या ३००,००० मानते हैं। इसी प्रकार वे जो श्रावक और श्राविकाओं की संख्या का विस्तार मान्य करते हैं वह अतिशयोक्तिपूर्ण प्रतीत होता है। पार्श्वनाथ के चतुर्विधसंघ के संगठन से उनकी अदम्य प्रतिभा एवम् संगठन शक्ति का ज्ञान भी होता है।

पार्श्वनाथ ने अपनी धर्मदेशना के अन्तर्गत कई नगरों में चातुर्मास किए थे, इनमें अहिच्छत्रा, आमलकप्पा, सावत्थी, कम्मिलपुर, सागेय, रायगिह, कोसाम्बी आदि प्रमुख थे। इनमें से अधिकांश नगर भगवान् महावीर के समय भी जैनधर्मानुयायियों के केन्द्र थे।

जैन परम्परा के अनुसार पार्श्वनाथ के समय का संग्रहीत जैन पवित्र साहित्य 'पूर्व' कहलाता था। सम्भवतः महावीर से प्राचीन ग्रंथ होने से उनकी संज्ञा पूर्व थी और ये अंग साहित्य से पूर्वतर थे। सामान्यतः इन १४ पूर्वों को जैनो के साथ साथ आजीविका भी पवित्र मानते थे। आजीविक संघ के प्रधान गोशाल ने पूर्वों से ही प्रेरणा ग्रहण की थी। लुप्त आजीविक साहित्य—आठ महानिमित्तों एवम् दो मार्गों के कुछ भाग के आधार रूप में इन पूर्वों को ही विद्वानगण मानते हैं^{११}।

जैन परम्परा के अनुसार १४ पूर्वों को १२ वें अंग—दृष्टिवाद में संकलित किया गया था, जिनके अन्तिमज्ञाता स्थूलभद्र थे, जो जैन आचार्य परम्परा में महावीर के पश्चात् आठवें आचार्य माने जाते हैं। समयान्तर में १४ पूर्वों के बजाय १० पूर्वों का ही अस्तित्व शेष रहा और बाकी विस्मृत हो गए। परवर्ती युग में दृष्टिवाद नामक बारहवें अंग को श्रुत परम्परा में सुरक्षित नहीं रखा जा सका और पार्श्वनाथ युगीन साहित्य ही अज्ञान हो गया। डॉ. हीरालाल जैन का विचार है कि दिगम्बर परम्परा में मान्य पुष्पदन्त एवम् भूतबलि द्वारा रचित षट्खण्डागम का आधार अन्य अ. साहित्य के साथ दृष्टिवाद भी था, फलतः^{१२} लुप्त चौदह पूर्वों का प्रतिनिधित्व करने वाला एकमेव प्राप्य ग्रंथ षट्खण्डागम है; परन्तु इस मान्यता को श्वेताम्बर परम्परा मान्य नहीं करती। श्वेताम्बर मान्य आगम परम्परा को अस्वीकार करते हुए षट्खण्डागम के आधार ग्रंथों में दृष्टिवाद को मान्य करने की दिगम्बर परम्परा विश्वसनीय प्रतीत नहीं होती क्योंकि यह ग्रंथ परवर्ती है, जबकि श्वेताम्बर परम्परानुसार दृष्टिवाद का अस्तित्व लुप्त होने की मान्यता परिपक्व स्थान पा चुकी थी।

जैन आगम साहित्य एवम् आरम्भिक बौद्ध ग्रंथों से पार्श्वनाथ की धर्मदेशना में उद्धोषित सिद्धान्तों का आभास होता है। विभिन्न स्रोतों से ज्ञात पार्श्वनाथ के चतुर्याम-धर्म के सिद्धान्त पूर्वतर अवश्य हैं, परन्तु उनमें महावीर के समान दार्शनिक गम्भीरता की अपेक्षा उच्च एवम् व्यावहारिक कठोरता की प्रतिष्ठा द्वारा मानव को धर्मोन्मुखकर केवल्य की और अग्रसरित करने के सोपान निहित थे। पार्श्वनाथ के ८ चातुर्याम धर्म में नैतिक बन्धन को अनिवार्य तत्व के रूप में स्थान देकर उनके अनुयायियों हेतु उनका प्रावधान किया गया था। पार्श्वनाथ इस व्यवहारिक एवम् नैतिक यम-नियमों का महावीर के अतिरिक्त बौद्ध धर्म के संस्थापक गौतमबुद्ध एवम् आजीविका आचार्य मंखलि-पुत्र गोशाल ने भी अपने अनुयायियों हेतु अपनाया था। पार्श्वनाथ द्वारा प्रतिष्ठित ये यम-नियम न केवल चतुर्विदसंघ के संगठन हेतु उपादेय थे बल्कि मानव समुदाय की स्वाभाविक स्वतंत्र, स्वशासन एवम् अनुशासन वृत्ति के ये प्रतिष्ठित मापदण्ड भी थे। जैन परम्परा से ज्ञात पार्श्वनाथ के द्वारा घोषित यम-नियम निर्ग्रन्थानुयायियों के सुसंगठन की आधारभूत पीठिका थे। बी. एम. बरुआ^{१३} का विश्वास है कि पार्श्वनाथ ही महावीर के दार्शनिक पूर्वाचार्य थे तथा उनके द्वारा संस्थापित व्यवहारिक नियम ही जैन दार्शनिक यथार्थता के मूलभूत आधार बने। इन यम नियमों में निरकुशता और आतियों का अभाव था।

उत्तराध्ययनसूत्र में वर्णित केशी-गौतम संवाद^{६६} से पार्श्वनाथ के सिद्धान्तों के मौलिक स्वरूप तथा महावीर के द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों से भिन्नता स्पष्ट होती है। निर्ग्रन्थों में प्रचलित महावीरयुगीन दो विचारधाराओं के सारभूत तत्वों के आख्यान रूप में इस संवाद का विशिष्ट और ऐतिहासिक महत्व है। पार्श्वानुयायी केशी ने महावीरानुयायी गणधर गौतम से प्रश्न किया कि—दोनों सम्प्रदाय एक होते हुए भी क्या कारण है कि पार्श्व-सम्प्रदाय वाउज्जाम धर्म तथा वर्द्धमान का सम्प्रदाय 'पंचसिख्य' कहा गया है। पार्श्व का धर्म 'संतरोत्तर' तथा वर्द्धमान का 'अचेलक' धर्म है। इसी प्रकार एक कार्य प्रवृत्त होने पर भी दोनों में भिन्नता का क्या कारण है? केशीकुमार के इस सम्बन्ध में किये गए प्रश्न पर, गौतम गणधर ने बतलाया कि पूर्वकाल में मनुष्य सरल किन्तु जड़ (ऋजु जड़) होते थे और परवर्तीकाल में वक्र जड़; किन्तु मध्यकाल के लोग सरल और समझदार (ऋजु प्राज्ञ) थे, अतएव पुरातन लोगों के लिए धर्म की शोध कठिन थी और पश्चात्कालीन लोगों हेतु उसका अनुपालन ही कठिन था, किन्तु मध्यकाल के लोगों के लिए धर्माचरण सरल था। इसी कारण आदि व अन्तिम तीर्थकारों ने पंचव्रत तथा मध्य के तीर्थकारों ने उसे चातुर्याम रूप में संस्थापित किया था। इसी प्रकार उन्होंने बतलाया कि अचेलक या संस्तरयुक्त वेष तो केवल लोगों में पहचान आदि के लिए नियत किए जाते हैं, यथार्थतः मोक्ष के कारणभूत तो ज्ञान, दर्शन और चरित्र ही है। गौतम और केशी के बीच इस वार्तालाप के परिणाम-स्वरूप केशी ने महावीर का पंचहाव्रत धर्म स्वीकार कर लिया।

गौतम के प्रत्युत्तर से स्पष्ट है कि पार्श्वनाथ द्वारा प्रतिपादित निर्ग्रन्थ मत पुष्ट धार्मिक सिद्धान्तों से आप्लावित था, जबकि महावीर के द्वारा उद्घोषित निर्ग्रन्थ मत में धार्मिक सिद्धान्तों के साथ-साथ एक मौलिक दार्शनिक विचारधारा भी थी; जो दोनों तीर्थकारों के देशकाल और जैनधर्म के विकासक्रम का परिचायक है।

पार्श्वनाथ की धर्मदेशना के सम्बन्ध में विशेष जानकारी उपलब्ध नहीं है। परवर्ती जैन परम्परा में वर्णित पार्श्वनाथ के उपदेशों से ज्ञात होता है कि इन्हें मानवमात्र में समानता में विश्वास था और वे वर्णभेद को अस्वीकार करते थे। वैदिक साहित्य में प्रतिपादित नारी के हीन अस्तित्व को अस्वीकार करने वाले पार्श्वनाथ प्रथम महान मनीषी थे और अपने चतुर्विदसंघ में नारी को स्थान देकर साध्वी अथवा आदिका के रूप में इन्हें भी धर्म-मार्ग पर चलने और मुक्ति की और उन्मुख होने का उन्होंने अवसर प्रदान किया। अहिंसा को पार्श्वनाथ ने अपने धर्म का आधार घोषित किया तथा कैवल्य प्राप्ति द्वारा प्रतिपादित कठोर तप के विधान का पालन कर कई मुमुक्षुओं ने निर्वाण प्राप्त किया था। मूल रूप में भगवान महावीर के सिद्धान्त भी पार्श्वनाथ के समान ही थे, केवल महावीर ने चतुर्याम के स्थान पर पाँच महाव्रतों और त्रिरलों का सागोपांग प्रतिपादन किया।^{६७} पार्श्वनाथ के अनुशासन में साधुओं हेतु व्यवहार में जुनकप्प का विधान था^{६८} तथा उनके द्वारा प्रतिपादित पाप के विभिन्न वर्गों को महावीर ६ लेश्याओं के रूप में प्रतिष्ठित किया था। एच. याकोबी का विचार है कि पार्श्वनाथ के अनुशासन एवम् सिद्धान्तों में निश्चित रूप से उनके निर्वाण के पश्चात् महावीरयुग तक आते-आते अन्तर ही चुका था, इस तथ्य को कालचक्रानुसार स्वाभाविक माना जाना चाहिए।

उद्धरण

- १ एथ. जिम्मर : फिलॉसफीज ऑफ इण्डिया, पृष्ठ २१७-२७; जे. जी., आर. फोरलॉग : शार्ट स्टडीज इन दि साइन्स ऑफ कम्पेरेटिव रिलिजन्स, पृष्ठ २४३-४४; पा. स्ट. ओ. बु. पृष्ठ २६० ; तुलसी प्रिवेदिक एक्जीस्टेंस ऑफ श्रमण टेडिशन ।
- २ से. बु. ई., ४५ पृष्ठ २०-२३ भूमिका भाग ।
- ३ से. बु. ई.; ४५, प्रस्तावना पृष्ठ १८-१९ ।
- ४ वही, ४५, २ पृष्ठ ३३ ।
- ५ दक्षिण-पश्चिमी इथोपिया की ओमोघाटी में प्रात्त पचास मानवाश्म से ३५ लाख वर्ष पूर्व मानव को उत्पत्ति की तिथि निश्चित हुई है, यद्यपि प्रो. वियन पैटर्सन को दो दाँत युक्त मानव-जबड़ा मिला है, जिसका समय ५५ लाख वर्ष पूर्व माना गया है परन्तु इस २० लाख वर्ष के अन्तर को एक ही स्थान के लिए मानना सन्देहांस्पद है (हितवाद, दिनांक ११ मार्च १९७३ में एडवर्ड एशपोल के लेख से)
- ६ एपिग्राफिया इण्डिका, ६ पृष्ठ ११-१२ ।
- ७ सम. १४७, नन्दीसूत्र ५६ ।
- ८ ऋग्वेद १०।१३।१२ (मुनयो वातरक्षाना ? पिशंगा वसने भलाः)
- ९ तैत्तिरीक आरण्यक २।७।१ ।
- १० ऋ. १२।८।५।४ ; २।३।३।१० ; १०।२।२ ।
- ११ वही, १०।१३।६।१ ; १०।१०।६।२ ।
- १२ भागवत ५।५।२।८ ५।६।७।१ ।
- १३ भागवत, ५।६।१६-१९ ।
- १४ वही, ५।५।१९-२६ ।
- १५ प्रजापतेः सुतोनाभि तस्यापि आगमुच्यति नाभिनो वे सिद्धकर्म दृढव्रत,
- १६ विष्णुपुराण, २. १. ७. १६, २७-३२ ।
- १७ शिवपुराण, ४।४।८।४।८ ।
- १८ भागवत, ५।३।२०
- १९ आवश्यकनिर्यंफि, गाथा १९०-९१ ।
- २० वही, ५।४।१४
- २१ वही, ५।५।२।८
- २२ वही, ५।६।१६-१९
- २३ वही, ५।४।८
- २४ भागवत, ५।४।२

- २५ वही, ५।५।१६-२६
 २६ वही, ५।६।७१
 २७ छान्दोग्य, ३।१।७।६
 २८ रा. पो. हि. ए. इ., पृष्ठ ३१-३६ ।
 ३० पा. सू. ओ. बु., पृष्ठ ३१७-१८ ।
 ३१ मा. मो. इ. सि., चित्र संख्या १२ आकृति क्र. १३, १४, १५, १६, २२ ।
 ३२ तैत्तिरिय आरण्यक २।७।१, ६।२।१३, १।२।४ ।
 ३३ पंच. ब्रा., १।७।४।१-६ ।
 ३४ बृह. उप. ३।२२ ।
 ३५ तैत्त. सं. ६।२।७।५, काठक संहिता ८।५ ऐ. ब्रा. ३।५।२; कौषि. उप. ३।१, अथर्व.
 २।५।३; ताण्ड्य महाब्राह्मण ८।१।४ ।
 ३६ ऋ. ४।३।३।१० ।
 ३७ से. बु. ई., ४५, पृष्ठ ३३ प्रस्तावना ।
 ३८ से. बु. ई., ४५, पृष्ठ २० से २३ प्रस्तावना ।
 ३९ कल्प, १।४।६, १।५।५ ।
 ४० से. बु. ई., ४५ प्रस्तावना, पृष्ठ २०-२३ ।
 ४१ से. बु. ई., ४५ पृष्ठ ८७ ।
 ४२ आचा, २।१।५-१६ ।
 ४३ उत्तरा. २३, पृष्ठ ११६-२६ ।
 ४४ भग. १, ७६ ।
 ४५ नाया. २, पृष्ठ २२ पाद टिप्पणी ।
 ४६ आव. जू. पृष्ठ २६१ ।
 ४७ भग. ६।३।२ ।
 ४८ नाया. १।६ पृष्ठ २१८ ।
 ४९ भगवती २।५ ।
 ५० नाया. २।१० ।
 ५१ राय. १।४।७, पाद टिप्पणी ।
 ५२ सूत्र. २।७ ।
 ५३ वी. एम. बरुआ ने 'पूर्व' सेतात्पर्य पूर्व परम्पराएँ लिया है और वे आजीविक ग्रंथ
 महानिमित्त में जैनों के लुप्त १४ पूर्वों का प्रभाव स्वीकार नहीं करते हैं ।

- ५४ चौदह पूर्व—उत्पाद, अभावणीय, वीर्यप्रवाद, अस्तिनास्तिप्रवाद, ज्ञानप्रवाद, सत्य-प्रवाद, आत्मप्रवाद, कर्मप्रवाद, प्रत्याख्यानप्रवाद, विद्यानुप्रवाद, अवन्ध्य, प्राणायुप्रवाद, क्रियाविशाल, लोकविन्दुसार ।
- ५५ ब. प्रि. बु. फि., पृष्ठ ३८० ।
- ५६ से. बु. ई. ४५, पृष्ठ १२२-२३ ।
- ५७ श्वेताम्बर एवम् दिगम्बर भेद को जैनमत का मूलभूत अन्तर मानकर क्रमशः पार्श्व-नाथ एवम् महावीर के अनुयायी रूप में प्रकट करने का भी परामर्श दिया जाता है, परन्तु यह युक्तियुक्त नहीं है क्योंकि श्वेताम्बर-दिगम्बर विभेद तो महावीर के शताब्दियों पश्चात् अस्तित्व में आया था ।
- ५८ जलाएडिजे के, पृष्ठ २७, महावीर द्वारा घोषित ।
- ५९ महावीर द्वारा घोषित ६ लेश्याश्रों को पार्श्वनाथ के ६ जीविकाय का परिष्कृत रूप भी माना जाता है । (आचारांग, २।१५-१६) ।

बौद्ध साहित्य में महावीर

हरीन्द्र भूषण जैन, उज्जैन

यह एक निर्विवाद सत्य है कि भगवान् महावीर और महात्मा बुद्ध समकालीन धर्मनायक थे। दोनों की जन्म एवम् कर्म भूमि भी भारतवर्ष का बिहार प्रदेश रही है। किन्तु दोनों धर्मनायकों का आपस में कभी मिलन हुआ हो, ऐसा उल्लेख न तो जैन साहित्य में कहीं पर उपलब्ध है और न बौद्ध साहित्य में। अनेक बार ऐसे प्रसंग अवश्य आए हैं जब कि दोनों धर्मनायक एक ही स्थान पर धर्मोपदेश देते हुए पाए जाते हैं। उदाहरणार्थ गृहपति उपालि तथा असिबन्धक पुत्र ग्रामणी के चर्चा प्रसंग में महावीर तथा बुद्ध नालन्दा में, सिंह सेनापति के चर्चा प्रसंग में दोनों वैशाली में तथा अभयकुमार की चर्चा प्रसंग में दोनों राजगृह में उपस्थित थे।

जैन आगम तथा त्रिपिटक के अध्ययन से ज्ञात होता है कि जैन-वाङ्मय में बुद्ध विषयक चर्चा न्यून है और बौद्ध वाङ्मय में महावीर विषयक चर्चा का बाहुल्य है। बौद्ध वाङ्मय में महावीर को 'नाटपुत्र' या 'निगण्ठ नाटपुत्र' या 'नातपुत्र' के नाम से सम्बोधित किया गया है।

महावीर ज्ञातृकुल के थे अतः वे 'ज्ञातृपुत्र' कहे जाते थे। ज्ञातृपुत्र को पालि रूप 'नाठपुत्र' या 'नातपुत्र' है। महावीर बाह्य एवम् आन्तरिक ग्रन्थ अर्थात् परिग्रह से रहित थे। अतः वे निर्ग्रन्थ कहे जाते थे। 'निर्ग्रन्थ' का पालिरूप है 'निगण्ठ'। इस प्रकार 'निगण्ठ नाटपुत्र' यह महावीर का नाम हुआ।

त्रिपिटक में प्राप्त महावीर विषयक प्रसंगों को हम चार भागों में विभक्त कर सकते हैं— १—चर्चा प्रसंग, २— घटना प्रसंग, ३—उल्लेख प्रसंग और ४—जातक प्रसंग।

१. चर्चा प्रसंग—

त्रिपिटक में ऐसे अनेक प्रसंग उपलब्ध हैं जिनमें भगवान् महावीर के अनुयायी श्रावक महात्मा बुद्ध के पास जाते हैं, उनसे अपनी शंकाओं का समाधान करते हैं और अन्त में वे बुद्ध के उपासक हो जाते हैं।

सिंह सेनापति महावीर का परम भक्त श्रावक है। किन्तु वह महावीर के द्वारा अत्यधिक समझाए जाने पर भी उनकी अवहेलना कर, पाँच सौ रथों के साथ बुद्ध के सभागार में पहुँचता है और उन्हें प्रणाम कर, 'क्रियावाद' 'अक्रियावाद' आदि विषयों पर चर्चा कर सन्तुष्ट हो बुद्ध का उपासक बन जाता है।

इसी प्रकार गृहपति उपालि^३, श्रावक अभय राजकुमार^१, असिबन्धक पुत्र ग्रामणी, श्रावक वप्प^४, आदि जो महावीर के परम उपासक हैं किसी न किसी प्रसंगवश बुद्ध के निकट आते हैं, उनके समक्ष अपनी शंकाएँ रखते हैं, चर्चा करते हैं और बुद्ध के उपदेश से संतुष्ट होकर उनके अनुयायी बन जाते हैं।

चित्र गृहपति, महात्मा बुद्ध के उपासकों में अग्रगण्य हैं। वे महावीर के पास आते हैं। दोनों में श्रद्धा व धर्म विषयक चर्चा होती है। अन्त में गृहपति चित्र निगण्ठ नाटपुत्त से धर्म विषयक दश प्रश्न पूछकर, उठकर चले आते हैं। दो लोकायतिक ब्राह्मण बुद्ध के पास आते हैं और उनसे कहते हैं कि 'हे गौतम' निगण्ठ नाटपुत्त कहते हैं कि मैं अपने अनन्त ज्ञान से अनन्त लोक को जानता हूँ और देखता हूँ; उसकी यथार्थता से हमें अवगत कराएँ। गौतम कहते हैं "उन विवादों में पड़ना ठीक नहीं, तुम लोग सुनो मैं धर्मोपदेश देता हूँ।"

एक बार बुद्ध, सकुल उदायी से पूछते हैं कि 'सर्वज्ञ और सर्वदर्शी कौन हैं?' उदायी कहते हैं "भन्ते, निगण्ठ नाटपुत्त सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हैं।"^{१८}

२. घटना प्रसंग —

इस प्रसंग में हम ऐसी घटनाओं का विवरण उपस्थित करते हैं जिनका सम्बन्ध स्वयं महावीर से है। पावा में महावीर का निर्वाण हुआ। चुन्द समणुदेश नामक एक बुद्ध के अनुयायी ने पावा से सामगाम में आकर बुद्ध के प्रधान शिष्य आनन्द को निगण्ठ नाटपुत्त की मृत्यु व निगण्ठों में हो रहे कलह की सूचना दी। इसे सुनकर आनन्द बोले— "आवुस चुन्द, भगवान् के दर्शन के लिए यह कथा भेंट रूप है।"^{१९} त्रिपिटक का यह प्रसंग अत्यन्त अमानवीय एवम् तीव्र धार्मिक असहिष्णुता का द्योतक है जिसमें एक धर्म-नायक की मृत्यु के समाचार को दूसरे धर्मनायक के लिए उपहार की संज्ञा दी गई है। बुद्ध के दूसरे प्रधान शिष्य खारिपुत्र ने बुद्ध के धर्मोपदेश के पश्चात् श्रोताओं को निगण्ठ-नाटपुत्त की मृत्यु का समाचार दिया और^{२०} निगण्ठों की फूट की चर्चा करते हुए अपने धर्म की अत्यन्त प्रशंसा की।

एक स्थान पर महावीर की मृत्यु के कारण का निम्न प्रकार उल्लेख है— "उपालि गृहपति को सत्य का प्रतिरोध हुआ और उसने दश गाथाएँ बुद्ध के उत्कीर्तन में कहीं। उस बुद्धकीर्ति को सहन न करते हुए नाटपुत्त ने अपने मुँह से उष्ण रक्त उगल दिया। उस अस्वस्थ स्थिति में वह पावा ले जाया गया, अतः वहीं वह कालगत हुआ।"^{२१}

एक अन्य घटना के प्रसंग में निगण्ठ नाटपुत्त को अन्य धर्मनायकों के साथ चन्दन के एक पात्र को प्राप्त करने का प्रयत्न करते हुए उपस्थित किया गया है। महावीर के त्याग एवम् अपरिग्रह को ध्यान में रखते हुए उनका एक चन्दन के पात्र के लिए रीभना न केवल अयुक्त किन्तु तर्कहीन एवम् असम्भव प्रतीत होता है।^{२२}

उल्लेख प्रसंग —

यहाँ हम ऐसी घटनाओं की चर्चा करेंगे जिनमें प्रसंगवश महावीर का उल्लेख मात्र है।

एक बार राजा अजातशत्रु ने बुद्ध से कहा "भगवान्, मैं 'श्रामण्यफल' के विषय में सभी धर्माचार्यों से, यहाँ तक कि निगण्ठ नाटपुत्त से भी पूँछ चुका हूँ, किन्तु किसी ने भी

मुझे संतोषप्रद उत्तर नहीं दिया ।”^{१३} इसी प्रकार एक समय राजा प्रसेनजित् ने बुद्ध से कहा “गौतम, क्या आप अधिकारपूर्वक कह सकते हैं कि आपने ‘अनुत्तर सम्यक् सम्बोधि’ को प्राप्त कर लिया है । मैंने अन्य धर्माचार्यों से भी यह प्रश्न पूछा, जिनमें गोशाल, निगण्ठ नाटपुत्त आदि हैं, किन्तु किसी ने भी इसका अधिकारपूर्वक उत्तर नहीं दिया ।”^{१४}

एक समय परिव्राजक अपने कुछ प्रश्न लेकर पूरणकश्यप, गोशाल, निगण्ठनाटपुत्त आदि के पास गया किन्तु किसी ने भी उसके प्रश्न का उत्तर नहीं दिया ।। अन्त में बुद्ध के सदुपदेश से उसकी ज्ञान पिपासा शान्त हुई ।^{१५} ठीक ऐसे ही उल्लेख सुभद्र परिव्राजक^{१६} तथा सच्चक निगण्ठ^{१७} के सम्बन्ध में प्राप्त हैं ।

एक प्रसंग में कहा गया है कि एक समय राजगृह में तथागत बुद्ध विहार कर रहे थे । उसी समय निगण्ठ नाटपुत्त आदि सातों धर्मनायक अपने धर्मोपदेशों से श्रावकों को संतुष्ट करने में संलग्न थे । किन्तु सभी धर्मनायकों के उपदेश के समय बहुत शोरगुल होता था और बुद्ध के उपदेश के समय इतनी अधिक शान्ति रहती थी कि लोग खाँसते तक नहीं थे ।^{१८}

एक स्थान पर महावीर के मत को ‘अनाश्वासिक ब्रह्मचर्यवास’ कहा गया है ।^{१९} अन्यत्र निक देवपुत्त को निगण्ठ नाटपुत्त की निम्न प्रकार से स्तुति करते हुए उपस्थित किया गया है—

“वे पापों से घृणा करने वाले, चतुर, भिक्षु, चार यामों से सुसंवृत्त हैं तथा दृष्ट व श्रुत का ही आख्यान करते हैं ।”

४. जातक प्रसंग—

जातक की तीन कथाओं में महावीर की चर्चा है—१—महाबोधिजातक (नं. ५२८) २—बाबेरु जातक (नं. ३३६), ३—तेलोवाद जातक (नं. २४६) ।

महाबोधि जातक के अनुसार बोधिसत्व एक धनिक उदीच्य ब्राह्मण के कुल में उत्पन्न हो, बोधिकुमार नाम को प्राप्त कर, अनेक शास्त्रों का अध्ययन कर तथा प्रकाण्ड विद्वान् बनकर वाराणसी लौटे और राजा ब्रह्मदत्त के आतिथ्य में रहने लगे । राजा की असीम श्रद्धा को देखकर पाँचों अमात्य बोध कुमार को मारने का प्रयत्न करने लगे । अन्त में शास्ता ने धर्म देशना देते हुए कहा कि उस समय पाँच मिथ्यादृष्टि अमात्य, पूरण कश्यप, मक्खलि गोशाल, प्रकुध कात्यायन, अजित केश कम्बली तथा निगण्ठ नाटपुत्त थे और बोधिकुमार मैं ही था ।

बाबेरु जातक में बताया गया है कि “जैसे सूर्योदय से जुगुनुओं का अस्तित्व समाप्त हो जाता है उसी प्रकार बुद्ध के आने से निर्ग्रन्थों की दशा हुई ।” इसी चर्चा में शास्ता ने कहा, एक बार बोधिसत्व मयूर की योनि में उत्पन्न हुए । उस समय भारतीय व्यापारी बाबेरु आदि राष्ट्रों में व्यापार करते थे । एक बार वे बाबेरु जाते समय एक दिशाकाक को ले गए । वहाँ के लोगों ने उसे बहुत-सा धन देकर खरीद लिया और उसे सोने के पिजरे में बन्दकर खूब खिलाने-पिलाने लगे ।

दूसरी बार व्यापारी एक सुन्दर मयूर को बाबेरु ले गए । वहाँ के निवासियों ने मयूर के सौंदर्य पर रीझकर, और अधिक धन देकर उसे खरीद लिया तथा उसे भी सोने के पिंजरे में बन्द करके खूब खिलाने-पिलाने लगे । अब कौए का आदर सत्कार समाप्त हो गया और वह भूखों मरने लगा । शास्ता ने धर्मोपदेश देते हुए बताया कि बुद्ध के पहले निर्ग्रन्थ पूजे जाते थे किन्तु बुद्ध के उत्पन्न होते ही निर्ग्रन्थों की पूजा समाप्त हो गयी । उन्होंने कहा—उस समय कौआ तो निगण्ठ नाटपुत्त थे और मोर तो मैं ही था ।

तेलोवाद जातक के अनुसार एक समय बोधिसत्व ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हो प्रब्रजित हो, साधना कर वाराणसी लौटे । एक गृहस्थ ने उन्हें आमन्त्रित कर मांस परोसा और कहा इसका पाप हम दोनों को लगेगा । बोधिसत्व ने धर्मोपदेश देते हुए कहा कि “यदि कोई अपने पुत्र तथा स्त्री का मांस भी दान में दे तो ग्रहणकर्ता प्रज्ञावान् पाप का भागी नहीं होता” ऐसा उपदेश दे वे आसन से उठ गए । शास्ता ने जातक का मेल बैठते हुआ कि “उस समय गृहस्थ निगण्ठ नाटपुत्त था और तपस्वी मैं ही था ।”

त्रिपिटक साहित्य में प्राप्त महावीर विषयक उद्धरणों एवम् प्रसंगों से दो बातें स्पष्टतः प्रतीत होती हैं कि बौद्ध वाङ्मय में महावीर व उनके सिद्धान्तों का सही प्रतिनिधित्व नहीं है, तथा २— स्व धर्म के अतिशय प्रेम से प्रेरित होकर महावीर एवम् तत्कालीन अन्य धर्मनायकों को महात्मा बुद्ध से हीन प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया गया है ।

उद्धरण

१. सुत्तपिटके, अंगुत्तर निकाय, अट्ठक निपात, महावग्गो, सीह सुत्तं, ८: २.२
२. वही—, मज्झिमनिकाय, मज्झिम पण्णासक, उपालिसुत्तं, ६.१-२१
३. वही—, मज्झिमनिकाय, मज्झिम पण्णासक, अभयराजकुमार सुत्तं २.८.१.
४. वही—, संयुत्त निकाय, सलायतनवग्गो, गामणिंसंयुत्तं, कुल सुत्तं, ४२. ६. १
५. वही—, अंगुत्तर निकाय, चतुक्कनिपात, महावग्गो वप्पसुत्तं, ४.२०५
६. वही—, संमुत्त निकाय, सलायतनवग्गो, चित्तसंपुत्तं, निगण्ठ नाटपुत्तसुत्तं, ४१.८.८ ।
७. वही—, अंगुत्तरनिकाय, नवकनिपातो, महावग्गो, लोकायतिकसुत्तं, ६.४.७.
८. वही—, मज्झिमनिकाय, मज्झिमपण्णासक, चूलसकुलुदामिसुत्तं, २६.१.२
९. सुत्तपिटके मज्झिमनिकाय, उपरिपण्णासक, सामगामसुत्तं, ३.४.१
१०. वही—, दीघनिकाय, पाथिकवग्गो, संगीतिसुत्तं, ३.१०.१-३.
११. मज्झिमनिकाय, अट्ठकथा, सामागामसुत्तवण्णना (आई. बी. हार्न द्वारा संपादित) खण्ड ४, पृष्ठ-३४ ।
१२. विनयपिटके, चुल्लवग्ग, खुद्दकवत्थुवखन्वकं, पिण्डोल भारद्वाजपत्तं वत्थु, ५.५.१० ।
१३. सुत्त पिटके, दीघनिकाय, सीलवखन्वग्गो, साम फलसुत्त, १.२.१. से ६ ।
१४. वही—, संयुत्त निकाय, सगाथवग्गो, कोसलसंपुत्तं, दहरसुत्तं, ३.१.१. से ४ ।
१५. वही—, खुद्दक निकाय, सुत्तनिपात, महावग्गो, समियसुत्तं, ३-६ ।
१६. वही—, दीघ निकाय, महावग्गो, महापरिनिव्वातसुत्त, सुभद्दपरिव्वाजक वत्थु, ३.२३.२५ से ८८ ।
१७. वही—, मज्झिमनिकाय, मूलपण्णासक, महासक्कसुत्तं, ३६.१.१. से ३६.५.३५ ।
१८. वहां—, वही—, मज्झिमपण्णासक, महासकुलुदापिसुत्तं, २७.१
१९. सुत्तपिटके, मज्झिम निकाय, मज्झिम पण्णासक, सन्दकसुत्तं, २६.१.२ ।
२०. वही—, संयुत्त निकाय, सगाथवग्गो, देवपुत्तसयुत्तं, नानातिथियसावकसुत्तं, २.३. ४५ से ६५—

JAIN TEMPLES IN INDIA

(Prof. K. D. Bajpai, University of Sagar)

For the study of the development of Jainism in India, the Jain temples and statues furnish a rich and variegated source-material. In order to give wide publicity to the tenets of a religion, it was deemed necessary to utilize the visual forms of art, such as sculpture, architecture, painting and dramatic arts.

The extant architectural remains in different parts of India indicate that the construction of Jain shrines had started during the Maurya period. The inscriptions carved in the Barabar caves near Gaya in Bihar show that Asoka, the great Maurya emperor, caused the construction of some caves for the monks of the Ajivika sect. The founder of this sect was closely associated with Tirthankara Mahavira. The Barabar caves undoubtedly represent the earliest rock-cut structure of a religious character. Near the Barabar hill there is another hill called Nagarjuni, which also has several inscribed caves. They are in the form ancient *parnasalas* mentioned in ancient Indian literature.

The construction of rock-cut shrines in eastern and western India received a fillip during the 2nd-1st centuries A.D. In Orissa near Bhubaneswar several extensive caves were carved out during this period. The Jain caves of Khandagiri and Udaigiri are well known. The inscription of the Jain king Kharavela of Kalinga, incised in a cave called Hatoigumpha, has thrown valuable light on the achievements of this king, who brought back from Patliputra an image of Jina to his capital. The image was taken away by a king of the Nanda dynasty more than hundred years before Kharavela. From the epigraphical evidence it is known that Jainism was the State religion of Kalinga for quite a long time.

The preparation of rock-cut caves and shrines continued in India for several centuries. In western and central India and the Deccan a number of Jain temples were carved out of living rocks. Two of the Udaigiri caves near Sanchi are Jain caves. The first (No. 1) cave here represents the archaic form of Jain temple of the Gupta style. Cave no. 20 of Udaigiri is another Jain shrine in which an artistic image of Jain Tirthankara was found. In the Gujarat-Maharashtra and western ghat regions the old rock-cut Jain shrines are still preserved.

The Chalukyas of Badami and the Rastrakutas of Manyakheta followed the rock-cut architecture in their regions. At Badami, Pattadakal and Ainole, both rock-cut and structural Jain temples were constructed during the period 550 to 800 A. D.

The origin of the Dravidian form of temple architecture is traceable in the temples of the Chalukyas. The extensive Jain rock-cut cave at Badami is important from the point of view of decorative designs and iconography of the Jain icons. The early Jain shrines of this area generally belong to the Dravidian type of tower, having an octagonal domical finial. A few of them represent the Nagara style of Indo-Aryan architecture. At Aihole is preserved a triple-shrined temple style.

During the reign of the Rashtrakutas the well-known Kailasa temple at Ellora was constructed out of a huge rock. The details of statuary and ornamental designs have been carved in the temple tastefully. At Ellora, the Jain group of temples follows the pattern of the Kailasa temple. The Jain temple called Indra-Sabha dates from about 800 A. D. It is approached through a rock-cut door way which opens on to a square courtyard of fifty feet wide. In its centre is a monolithic shrine in the form of a miniature Dravidian temple. A free-standing pillar called *dhwaja-stambha* is also there. The construction of such high pillars in the front of Jain temples became an indispensable feature in the Medieval time.

The Second and more important category of Jain temples is the structural one. These were made of stones and bricks. They were constructed sometimes along with the Jain stupas. The profuse literary references to Jain stupas and temples indicate that they were constructed on a large scale after about 700 A. D. The remains of ancient and medieval Jain temples have been discovered almost throughout the country. They eloquently prove that the construction of these temples and images got an impetus during the rule of the early and late Medieval dynasties. The merchants and tradesmen also contributed to the construction of a large number of them.

The study of the Jain temples not only reveals the gradual development of architectural style in different parts of the country, but it also throws light on the history of plastic art. Both for the study of iconography and aesthetic excellence these temples are extremely valuable.

The Jain temples of Khajuraho are well-known edifices of the well-known Sikhara style. The parallel friezes in these temples, like those in their counterpart Siva shrines, are decorated with excellent statuary in the typical style of Khajuraho. Rows of beautifully carved figures dominate the entire scheme. The Parsvanath temple is the largest of the group. It is 68 feet high and faces east. Internally it consists of three chambers. The *mahamandapa*, the *antorala*, and the *garbhagriha*. They are surrounded by a circumambulatory passage. The recessed ceiling of the portico of this temple is a masterpiece of carving. On the entrance door to the temple is a ten-armed Jain goddess riding on *Garuda*. on the lintel of the structure are carved the figures of seated and standing Tirthankaras.

On the outer walls of the Khajuraho temples are portrayed the figures of *apsaras* in various playful moods. They indicate superb grace in modelling. The Adinatha temple at Khajuraho shows the same features as found in the temple of Parsvanath.

In the Maladevi temple at Gyaspur, the workmanship of the decorative detail of the exterior and the huge images of the sanctum display a high degree of art and architecture.

In Rajasthan the Jain temples at Osia, Ranakhur, Sadri and Mount Abu are well-known shrines representing a combination of grandeur and refinement. Ornamental carvings of the temples at Mount Abu are simple remarkable for their delicate art in marble.

In Karnatak, the structures and statues at Sravanabelgola are well-known for their colossus nature. The huge image of Gommateshwar is unique of its type.

The Jain art developed in South India upto the time of the kingdom of Vijayanagar. The temple style of Vijayanagar spread throughout South India.

One significant feature of Jain shrines is the building up of temple-cities. Examples of such cities can be seen at Abu, Girnar, Satrunjaya and several other places. Sometimes the number of Jain edifices at one site runs into several hundreds. The sites of hillocks provide a good location for such temple cities. These have grown into great *tirthas*, being visited by a large number of devotees.

The recent Jain temples exhibit, in a large measure, the traditional temple styles which developed in the country through a long period of time.

LIFE AND TEACHINGS OF LORD MAHAVIRA

Kailashchand Jain

According to the traditions preserved in the scriptures, Jaina religion is eternal, and that before Mahavira (C. 600 B. C.), there lived twenty three Tirthankaras. They appeared at certain intervals of time to propagate true religion for the salvation of the world. Except Parsvanatha, the immediate predecessor of Mahavira, who is said to have flourished some 250 years before him, the interval in years between one Tirthankara and the other cannot be expressed in definite number of years. The first Tirthankara Rishabhadeva is known to be the founder of Jainism. The twenty second Tirthankara Arishtanemi or Neminatha is said to be a contemporary of Srikrishna. H. JACOBI and others have tried to prove on the authority of Jaina and the Buddhist records that Mahavira's predecessor, the twenty third Tirthankara, Parsvanatha, was a historical personage. He enjoined on his followers four great vows : (1) Abstinence from killing living beings, (2) Avoidance of falsehood, (3) Avoidance of theft and (4) Freedom from possessions.

Lord Mahavira, the twenty fourth and the last Tirthankara of the Jainas, is a supreme personality and acknowledged as a great Brahmana, a great guardian, a great guide, a great preacher, a great pilot and a great recluse. Around his personality, there gathered a number of men and women belonging to different castes and classes. His disciples and followers sincerely believed that their master was, whether walking or sitting, gifted with a supreme knowledge and vision of the *summum bonum*. To them, he stood as a living example of highest human virtue and perfection. His life was to them a perennial source of light and inspiration. His teachings and instructions were for them not ordinary words but utterances of one who saw the light of truth and was to lead others along the path of enlightenment.

HIS CLAN AND PARENTAGE :--

Mahavira or 'the great Hero' was not the personal name of the religious teacher. He was better known, to his contemporaries as 'Nigantha-Nataputta'. As he was unclothed without and free from all worldly bonds and ties within, he was called Nigantha (Nirgrantha). He was called Nataputta because he was a scion of the Nata clan. Mahavira was a son of Kshatriya Siddhartha, also known as Sreyamsa and Yasamsa and of Kshatriyani Trisala also known as Videhadatta and Priyakarini of the Vasishtha *gotra*. He himself belonged to Kasyapa *gotra*. His mother was a sister of Chetaka, one of the kings of Vaisali. His parents, both lay followers of Parsva, were pious and chaste.

Some Svetambara works mention that Mahavira was first conceived in the womb of a Brahmin lady called Devananda but was later transferred to the womb of Trisala Kshatriyani. The *Bhagavatisutra* describes how Devananda and Usabhadhatta, the original parents came to see Mahavira when the latter had become famous as a preacher. On seeing Mahavira, milk began to flow from the breast of Devananda due to the strong motherly love she bore towards him. Both of them accepted the order of their son. This incident regarding the transfer of womb has

been discredited by the Digambaras. H. JACOBI thinks that of Siddhartha had two wives, the Brahmani Devananda, the real mother of Mahavira and the Kshatriyani Trisala. The name Rishabhadatta has been invented by the Jainas in order to provide Devananda with another husband.

His Birth :—

The Jaina tradition places Mahavira's birth in 599 B. C. Before birth his mother is said to have seen a number of dreams. The interpreters foretold that the child would become either a universal monarch or prophet possessing all possible knowledge. He was born at Kundapura near Vaisali in the Videha country. Kundapura and Vaisali are identified with Basukund and Basarah respectively in Muzaffarpur District some 40 km to the north of Patna. His birth was celebrated with great rejoicings. Festivals kept the whole town bound in mirth and joy for ten days after which many offerings were made to the gods. His parents named him Vardhamana or the prosperous one because with his birth, the wealth, fame and merit of the family increased.

Childhood :—

As Mahavira possessed supreme valour during childhood, he was given the name 'Mahavira'. He could stand fast in the midst of dangers and fears. Once he is said to have controlled an elephant, when he saw it mad with fury. He is also known to have caught hold of the dreadful snake and threw it away, when his companions fled away in alarm. He was handsome and impressive. He was clever and was possessed of a very keen intellect. He received the usual education and training of a Kshatriya aristocrat in literature and philosophy, in military and administrative sciences, and in music and fine arts.

Life of a Householder :—

On the question of Mahavira's marriage, there is a fundamental difference of details between the two sects of Jainism namely the Digambaras and the Svetambaras. The Digambara works deny the fact of Mahavira's marriage. On the other hand in the Svetambara accounts, there is allusion to his marriage. He was married to a beautiful young woman, Yasoda, a Kshatriya lady of Kaundinya *Gotra*, who soon presented him with a daughter named Anojja. Anojja was married to Jamali, a kshatriya, who after becoming Mahavira's follower created a schism, Mahavira's grand daughter, who belonged to the Kaujika *Gotra*, had two names: Seshavati and Yasovati.

Mahavira's paternal uncle was Suparsva. His elder brother was Nandivardhana and his elder sister Sudarsana. His parents died when he was thirty years old. Afterwards, his elder brother, Nandivardhana, succeeded his father. With the permission of his brother and other authorities, he carried out his long cherished resolve and became a monk with the usual rites. The Digambara works do not mention the names of his elder brother and elder sister. According to them, Mahavira embarked upon his spiritual vocation during the lifetime of their parents.

His Ascetic Life : His Twelve Years of Preparation :—

For twelve years, Mahavira led a life of the hardest asceticism, thus preparing himself for the attainment of the highest spiritual knowledge. He sometimes lived in workshops, assembling places and shops;

sometimes in a cemetery, in relinquished houses or at the foot of a tree for meditation. In these resting places, he had to face manifold calamities. Crawling or flying animals attacked him. He was beaten with sticks, and struck by sinful people. Even then, he showed no resentment and remained calm and cool-headed. He was so much immersed in meditation that when asked, he gave no answer; when saluted he gave no reply.

During his period, Mahavira travelled in the pathless country of Radha in Vajrabhumi and Svabhrabhumi where he used most comfortless beds and seats. The rude natives of the place attacked him and unleashed their dogs to bite him, but he never used his sticks to keep them off. Being perfectly enlightened, he endured the abusive language of the rustics. Sometimes when he did not reach the village, the inhabitants met him on the outskirts and attacked him, saying, "Get away from here". He was struck with a stick, fist or lance, he was hit with a fruit, a clod, and potsherd. When once he sat without moving his body, they cut his flesh, tore his hair or covered him with dust. They disturbed him in his religious meditation. Abandoning the care of his body, he endured all pains free from the desire.

Mahavira carefully avoided injuring the meanest form of life. He renounced the company of the female sex and of all householders. He did not use what was expressly prepared for him. He did not use another's robe, nor did he eat out of another's vassel. He never had any desire for any medical treatment. In the cold season, he meditated in the shade, and in summer, he exposed himself to the heat. He lived on rough food; rice; pounded jujube, and beans. Using these three kinds of food, he sustained himself eight months. Sometimes, he ate only the sixth meal, or the eighth, the tenth and the twelfth.

Mahavira and Gosala :—

One important event of Mahavira's ascetic life was his meeting with Gosala Maukhaliputta, the head of the Ajivika sect in the second year at Paniyabhumi, and they lived together for six years. Probably because of his association, we find some points of similarity in Jaina and Ajivika doctrine and practice. From the account of the *Bhagawati Sutra*, it is known that Gosala became a disciple of Mahavira. In the ninth year of the ascetic life of Mahavira, Gosala severed his relations with his master on account of doctrinal differences, and went to Sravasti where he spent sixteen years as a religious leader of the Ajivika sect.

Kevalajnana :—

The period of twelve years spent in penance and meditation was not fruitless, for in the thirteenth year, Mahavira at last attained supreme knowledge and final deliverance from the bonds of pleasure and pain outside of the town Jrimbhikagrama on the northern bank of the river Rijupalika in the field of the householder Samaga. When the venerable Mahavira had become an Arhat and a Jina, he was a kevalin, omniscient and comprehending all objects; he knew all the conditions of the world, of gods, men and demons; whence they come where they go, whether they are born as men or animals, or become gods or hell-beings; their food, drink, drugs, desires, open and secret deeds, their conversation and gossip and the thought of their minds; he saw and knew all the conditions in the whole world of all living beings.

After attaining kevalahood, Mahavira is said to have returned to Majjhima Pava. Here after a long discussion on various religious and philosophic points, he converted eleven learned Brahmanas who had gone there to attend the great sacrifice performed by a rich Brahmana named Somila. These eleven were known as Ganadharas and the chief among them was Indrabhuti Gautama. They are said to have been versed in the twelve *Angas* and the fourteen *Purvas*. Their conversion by Mahavira proves that among the Brahmins also an ideological revolution was taking place and compelling them to give up their traditional grooves of thoughts advocating ritualism. Further, it was this intelligentsia that predominantly included the Brahmins who helped him to spread his faith.

Places of Rainy Seasons (Chaturmasa) :—

The Jaina *Kalpasutra* gives the names of the places where Mahavira spent one or more rainy seasons since he became an ascetic after renouncing the world. He stayed the first rainy season in Ashthikagrama, three rainy seasons in Champa and Prishtichampa, twelve in Vaisali and Vanijagrama, fourteen in Rajagriha and Nalanda, six in Mithila, two in Bhadraka, one in Alabhika, one in Panitabhumi, one in Sravasti and the last one in the town of Papa in king Hastipala's office. This list is neither exhaustive nor chronological though covers broadly the fortytwo years of his itinerary. From the evidence of the *Kalpasutra*, it is clear that the propagation of Mahavira's religion did not go beyond Bihar, Eastern U. P. and a part of Bengal. No doubt later Jaina works such as the *Avasyaka Nirukti* and the *Avasyaka Churni* sometimes mention the names of new towns and villages associated with the life of Mahavira but actually, there is no contemporary evidence to prove their existence.

Four orders of the Jaina community (Samgha) :—

Mahavira possessed a unique power of organization. By his wonderful personality and organization skill, he attracted a large number of people, both men and women, to be his disciples. From them, therefore grew the four orders of his community; monk, nuns, laymen and laywomen. The chief among his followers were the fourteen thousand monks placed under the charge of Indrabhuti Gautama. The women followers, some thirtysix thousand actually renounced the world and became nuns, and at their head was Chandana. His third order consisted of laymen numbering about one hundred and fitynine thousand with Sankha Sataka at their head. The fourth and last order consisted of devout lay-women or Sravikas numbering about three hundred and fifty eight thousand with Sulasa and Revati as their heads. These laymen and women could not actually renounce the world but they at least could observe the five small vows called *anuvrata*. By forming these two orders in the Jina community, he showed a great genius for organization which actually gave the Jaina a root in India.

Influence on lay followers :—

The lay disciples of Mahavira, both male and female, are all mentioned as persons of opulence and influence. At the same time, they were noted for their piety and devotion. Their contemporaries including kings and princes, consulted them on many affairs and matters. Among them Ananda and his wife Sivananda from Vanijagrama, Kamadeva and his wife Bhadra from Champa, Chulanipriya and his wife Syama, Suradeva and his wife Dhanya from Baranasi, Chullasataka

and his wife Pushya from Kampilyapura, Kundakolita and his wife from Kampilyapura, Sardalaputra and his wife Agnimitra from Polasapura, Mahasataka from Rajagriha, and Nandinipriya and his wife Asvini, and Salatipriya and his wife Phalguni were the most well known lay disciples of Mahavira.

Royal patronage :—

Not only the rich bankers and merchants, but even kings, queens, princes and ministers became lay disciples of the Jaina Tirthankara Mahavira. His personal connections with the various rulers were through his mother, Trisala, the Lichchhavi princess and his maternal uncle, Chetaka, the king of Vaisali. According to Jaina traditions, kings like Srenika, Kunika, Chetaka, Pradyota, Satanika, Dadhivahana, Udayana, Virajaya, Virajasa Sanjaya, Sankha, Kasivaddhana and others are said to be his followers. Queens like Prabhavati of Udayana, Mrigavati and Jayanti of Kosambi, queens of King Srenika and Pradyota, and Princesses like Chandana, the daughter of the king of Champa followed Jainism. Princes called Atimukta, Padma, grandsons of Srenika, Megha, Abhaya and others are said to have joined the Order of Jainism. The royal patronage must have facilitated the spread of Jainism.

The *Uttaradhyana Sutra* relates how Srenika (Bimbisara of Magadha) the lion of the Kings, with the greatest devotion visited the other 'Lion of homeless ascetics' (*Anagara-Siham*) at a *chaitya* with his wives, servants and relations, and become a staunch believer in the Law. R. K. MOOKERJI and other historians have indentified this ascetic with Mahavira. His Jaina leanings may have been due to his wife Chellana who was a daughter of Chetaka of Vaisali. His son Kunika was also a follower of Mahavira. He is known to have appointed a special officer known as *Pravritti Vaduka Purusha* to inform him about the wanderings and daily routine of Mahavira. He was a frequent visitor to Mahavira with his queens and royal retinue. Chetaka, the ruler of Vaisali, became a devotee of Mahavira. It was only due to his influence that Vaisali became a stronghold of Jainism and that Mahavira visited this place from time to time. Looking at the great importance of Champa in the Jaina annals, there is nothing strange if one assumes that its ruler Dadhivahana followed Jainism and held Mahavira in high esteem. The ruler of Kausambi named Satanika and his wife Mrigavati were devotees of Mahavira and followers of the Jaina Order.

Influence on Contemporary Clans :—

Not only the rulers but also several contemporary clans were the followers of the religion of Mahavira. There are many stray references in the Jaina *Sutras* which prove that the Lichchhavis followed the Jaina faith. Their capital, Vaisali one of the headquarters of the Jaina community during the days of Mahavira. Out of the fortytwo rainy seasons of his ascetic life, Mahavira spent twelve at Vaisali. Like the Lichchhavis, the Vajjis, who in fact cannot be strictly differentiated from the Lichchhavis, came under the influence of Lord Mahavira, for Vaisali seems to have been regarded also as the metropolis of the entire Vajji Confederacy. The Jnatrikas of Kundagrama, who formed one of the most important clans included in the Vajjian confederacy; were also his followers. The other clans of the Vajjian confederacy must have been naturally affected by the doctrines of Nataputta. It is among these confederate Kshatriyas that Maha-

vira was born and found strong supporters of his religion. The Mallas also seem to have cherished a feeling of respect and sympathy for the great prophet and his doctrines. The Ugras and the Bhogas are repeatedly mentioned in several of the oldest sacred books as being among the most prominent of the earliest converts.

Mahavira and The Buddha :—

Although Mahavira and the Buddha had not personally met each other, there were occasions when they felt interested in knowing and discussing each other's view through some intermediaries. Dirghatapasvi and Satyaka among the Nirgrantha recluses, and Abhaya, the prince, Upali, the banker, and simha, the Lichchhavi General among the Jaina laity, loom large among those intermediaries. While they are said to have halted at Nalanda, Vaisali and Rajagriha at one and the same time, they are not known to have seen each other. Mahavira was senior in age to Buddha, the former predeceasing the latter by a few years.

There is a persistent Jaina tradition that Mahavira attained Nirvana in 527 B. C. at Pava when he was at the age of 72. This date is further confirmed by some other evidence. With the help of this date, we may fix up the dates of Mahavira's contemporary rulers and religious teachers. It is said in the *Kalpasutra* that when Mahavira died, the eighteen confederate kings of Kasi and Kosala, the nine Mallakis and the nine Lichchhavis instituted an illumination, saying, "Since the light of intelligence is gone, let us make an illumination of material matter".

Teachings of Mahavira :—

Mahavira's teachings are partly based on the religion of his predecessor, Parsvanatha and partly independent. He was responsible for the condification of religious doctrines of his predecessors into a set of rigid rules of conduct for monks and laymen. Besides, he had to introduce changes in the existing religion in order to meet the needs of the time. Sometimes, he borrowed certain ideas from others in order to bring them into harmony with his own system. He also formulated his own doctrines under the influence of the controversies endlessly going with his religious contemporaries.

Originally, Mahavira's teachings are supposed to have been embodied in the Fourteen *Purvas* and the Eleven *Angas*. They are simple, practical and ethical. He prouuded not only the doctrinal side of Jainism but also the practical and disciplinary path. It was chiefly in and through the life of mendicants that the ideal of conduct was sought to be fulfilled.

Nirvana :—

The ultimate object of Jainism as taught by Mahavira is Nirvana which consists in the attainment of peace and infinite bliss. It is a safe, happy, quiet, and eternal place in view of all but difficult of approach where there is no old age, nor death, nor sorrow, nor pain, nor disease. This highest goal is to be attained through annihilating the old Karmans lying heavy on the soul by the practice of austerities, and to stop the influx of new Karmans by the practice of self restraint called *Samvara*, with regard to the body, speech and mind.

Faith, Right knowledge and Right conduct :—

Right Faith, Right knowledge, and Right Conduct are the three essential points in Mahavira's teachings which lead to perfection by the destruction of Karmans. Without Right Faith, there is no Right knowledge; without Right knowledge, there is no virtuous conduct; without virtues, there is no deliverance and without deliverance (*Moksha*), there is no perfection.

Austerities :—

The road to final deliverance also depends on austerities which destroy the bad karmans. These austerities are of two kinds—external and internal. The external austerities are of six kinds— (1) Fasting, (2) abstinence, (3) collecting alms, (4) abstention from dainty food, (5) mortification of the flesh, and (6) taking care of one's limb. Internal austerities are of six types :—(1) expiration of sins, (2) Politeness, (3) serving the *Guru*, (4) study, (5) meditation, and (6) abandoning the body.

Five vows :—

Mahavira taught five vows. The first great vow of the Jaina is abstinence from killing living beings. In thoughts, words and acts, he should do nothing injurious to anybody. The second great vow is the avoidance of falsehood. A Jaina should speak after deliberation. The third great vow is the avoidance of theft. The next vow is the avoidance of sexual pleasure. A Jaina should desist from continually discussing topics relating to women. The last great vow is freedom from possessions. He should renounce all interest in worldly things, especially in property.

Doctrine of the nine categories or truths (Navatattva) :—

Mahavira seems to have formulated his theory of the nine categories to explain how the bondage of the soul arises by way of Karmic effects upon it and how these effects are get rid off and the liberation of the soul is obtained. The categories are as follows : (1) *Jiva* (soul), (2) *Ajiva* (inanimate things), (3) *Bandha* (the binding of the soul by *Karma*), (4) *Punya* (Merit), (5) *Papa* (demerit), (6) *Asrava* (that which causes the soul to be affected by sins), (7) *Samvara* (the prevention of *Asrava* by watchfulness), (8) *Nirjar* (the annihilation of *Karma*), and *Moksha* (final deliverance). He who believes in the true teaching of the above nine fundamental truths, possesses righteousness.

As corollaries to these terms, the theory of the categories came to include two other groups of terms. The *Panchastikayas* (five substances) comprehending and characterizing the world of existence are : (1) *Dharma* (medium of motion), (2) *Adharma* (medium of rest), (3) *Akasa* (space), (4) *Jiva* (soul) and (5) *pudgala* (matter). The three terms of substance (*Dravya*), qualities (*Guna*) and *Paryaya* (Development) comprehend and characterize the five *Astikayas*.

Theory of Karma :—

According to Mahavira, birth is nothing, caste is nothing, *Karma* is everything, and that on the destruction of *Karma*, all future happiness depends. This theory of *Karma* is known as the notion

of the freedom of the will. According to it, pleasure and pain, and happiness and misery of the individual depend upon his free will, exertion and manly strength. *Karma* is the deed of the soul. It is a material forming a subtle bond of extremely refined karmic matter which keeps the soul confined to its place of origin of the natural abode of full knowledge and everlasting peace. According to this theory, there are as many souls as living individuals, and *Karma* consists of acts, intentional and unintentional, that produce effects on the nature of the soul. Thus, the soul is not passive in the sense that it remains untouched or unaffected by what a person does, but is susceptible to the influences of *Karma*.

Six Lesyas :—

Mahavira also advocated the doctrine of six *Lesyas*. These *Lesyas* are different conditions produced in the soul by the influence of different karmans. They are, therefore, not dependent on the nature of the soul, but on the *Karma* which accompanies the soul, and are, as it were, the reflection of the Karmans on the soul. The *Lesya* is a term signifying colour. These *Lesyas* are named in the following order : black, blue, grey, red, yellow and white. The black, blue and grey *lesyss* are the lowest lesyas, through them, the soul is dragged into certain miserable courses of life. The red, yellow and white *Lesyas* are the good *Lesyas*, through them the soul is brought into a state of happiness.

Doctrice of Nayas :—

In opposition to the agnosticism of Sanjaya, Mahavira propounded his doctrine of *Nayas*. The early canonical texts just mention *Nayas* without fixing up their number four or seven. In course of time, this doctrine of *Nayas* was called *Syadvada* (*Saptabhanginyaya*) according to which there can be seven alternatives to a decisive conclusion. *Nayas* were actually the ways of expressing the nature of thing from different points of view; they were the ways of escaping from the tendencies of insensitivity and dogmatism which Mahavira disliked. It is a midway between scepticism and dogmatism. They appealed to masses because they encouraged a tolerant attitude towards different religions.

The Samitis and the Guptis :—

There are five *Samitis* and three *Guptis* which constitute eight articles of the Jaina creed. The *Samitis* are the following:—(1) going by paths trodden by men, beasts, carts, etc., and looking carefully so as not to cause the death of any living beings; (2) gentle, sweet and religious speech; (3) receiving alms in so nice a manner that the forty two faults are avoided; (4) receiving and keeping things necessary for exercises; and (5) answering the call of nature in an unfrequented place. The three *Guptis* are the following : (1) preventing the mind from sexual pleasures by engaging it in contemplation, study, etc., (2) preventing the tongue from saying bad things through a vow of silence and (3) putting the body in an immovable posture.

Exertion of Righteousness, and the four Requisites :—

Mahavira has given detailed instructions regarding exertion of righteousness in different spheres of life. These are actually the moral duties. Those, who believe in it, accept it, practise it, comply with it, study it, and understand it, have obtained perfection, enlightenment, deliverance and final be attitude.

It is difficult for a living being to obtain these four things of great value : (1) Human birth. (2) Instructions in the law, (3) Belief in it, and (4) power of self-control. Through the destruction of their *Karma*, living beings will be born as men. Though born as human beings, it would be difficult for them to hear the law. It will be difficult for them to believe in the law though indeed they will hear it. Knowing full well that the four requisites are difficult to obtain, they will apply themselves to self-control in order to become eternal *Siddhas* (perfect ones).

Impurity and Death against (and with) one's will :—

Those, who acquire wealth by evil deeds and by adhering to wrong principles, will lose it. Wealth will never protect a careless man in this world. External things weaken the intellect and allure many; therefore keep them out of mind. Remove pride, delusion, greed and deceit. Heretics, who are impure and proud, are always subject to love and hatred, and they are wholly under the influence of their passions.

There can be two ways of dying : (1) Death with one's will, and (2) death against one's will. Death against one's will is the death of an ignorant man, and it happens to him several times. Death with one's will is the death of a wise man, and it happens only once as, for instance, in the case of a *Kevalin*. When death really comes, the fool trembles in fear. He dies against his will. The virtuous and the learned do not tremble in the hour of death. A wise man will become calm through patience and will have an undisturbed mind at the time of death.

Actions of ignorant and wise men :—

All men, who are ignorant of truth, are subject to pain. A wise man who considers well the way that lead to bondage and birth should search for the truth. It is an ignorant man who kills, tells lies, robs on the highway, steals goods, and deceives others. He will be born in hell. Those men who; through the exercise of various virtues, become pious householders, will surely reap the fruit of their actions. A virtuous man will be born in heaven. It is difficult to satisfy anybody. The more one gets the more one wants. Man's desire increases with his means. One should not desire women who continually change their minds, who entice men, and then make a sport of them as of slaves.

Vanity of worldly Pleasures :—

All pleasures produce but pain. All singing is but prattle, all dancing is but mocking and all ornaments are but a burden. Pleasures which men enjoy are not permanent. They leave them as soon as they come just as a bird leaves a tree devoid of fruits. Man's life is transitory and precarious. Pleasures bring him only a moment's happiness. But suffering for a long time brings intense suffering and on happiness. Pleasures are an obstacle to the liberation from existence, and are a mine of evils. The soul cannot be apprehended by the senses because it possesses no corporeal form; and, since it has no corporeal form, it is eternal.

The causes of carelessness :—

Love and hatred are caused by *Karma* which has its origin in delusion. *Karma* is the root of birth and death. Misery causes with the absence of delusion, delusion with the absence of desire, desire with the

absence of greed, and greed with the absence of property. Rich and delicious food should not particularly be preferred, for it generally makes men overstrong, and desires rush upon the strong. To those who have overcome the attachment of women all other attachments will offer no difficulties. From the desire for pleasure arises the misery of the whole world. The dispassionate will put an end to whatever misery of the mind and body there is. He who is passionately fond of colours will come to untimely ruin. He who is indifferent to true colours is free from sorrows. All such passions as anger, pride, deceit, disgust, aversion to self-control, delight in sexual things, mirth, fear, sorrow, carnal desire for women, arise in him who is attached to pleasures.

Sinful and wicked deeds :—

There are three ways of committing sins : by one's own action, by commission, and by approval of the deed. Those, who kill others for the sake of their own pleasures are wicked. People, who destroy seeds for their own pleasure, are wicked. All creatures who have committed sins will suffer. Wrong beliefs and bad conduct are worthless. Sinners, subject to love and hatred and wrong doing, acquire *Karma* arising from passions and commit many sins. The careless commit sins in their thought, act and speech. A cruel man does cruel things and is thereby involved in other cruelties. Sinful undertakings will in the end entail suffering. Sentient beings engage themselves in the following kinds of activities : Sinning for one's own interest, sinning without a personal interest, sinning by staying, through accident, by error or sight, by lying, by taking what is not freely given, by mere conceit, through pride, through greed, through deceit, through bad treatment of one's friends, and actions concerning a religious life.

Hells :—

In hells, sinners suffer on account of their sinful deeds done by them while on earth. There is suffering from heat and cold. The sinners are cut, pierced, and hacked to pieces with swords and daggers, with darts and javelins. Their noses, ears, and lips are cut off with razors and their tongues are pulled out with sharp pikes. They are thrown into large caldrons and boiled there. They are compelled to drink molten lead and copper when they are thirsty. They are tortured day and night, and they cry at the top of their voices. These hells are filled with perpetual darkness. In them, they do not sleep, nor do they get any comfort.

A gloomy view of the world :—

Mahavira presents a gloomy picture of the world. This is a place of quarrel and strife, death and carnage, and of all mad pursuits of life, the ultimate end of which is disappointment. For the sake of food and drink, lodging and comfort, woman and wealth, man is involved in various difficulties that lead the soul from sin. Because of their attachment to seductive pleasures of the senses like sounds and colours, tastes and smells, and touches and perceptions, living beings suffer and find no escape from pain. The path to these pleasures is the path to birth, disease, decay, and death. Looking at the miserable condition of the world, man craves for liberation, deliverance and perfection.

Real Brahmana :—

In the opinion of Mahavira, real Brahmana is not so called by

birth but by actions. He who is free from love, hatred, and fear is called a Brahmana. He thoroughly knows living beings and does not injure them in any of the three ways (by his thought, word, and deed). He does not speak untruth from anger, or from greed or from fear. He does not take anything which is not given to him. He does not carnally love divine, human, and animal beings in thoughts, words and deeds. He is not defiled by pleasures. He who is not greedy, who lives unknown, who has no house, and who has no friendship with householders. He has given up his former connections with his relations and parents. One does not become a Sramana by the tonsure, nor a Brahmana by pronouncing the sacred syllable *Om* nor a *Muni* by living in the forest nor a *Tapasa* by wearing clothes of *Kusa*-grass. One becomes a Sramana by equanimity, a Brahmana by chastity, a *Muni* by knowledge, and a *Tapasa* by penance. One becomes a Brahmana or a Kshatriya or a Vaisya or a Sudra by one's actions. The real Brahmana possesses good qualities and is able to save himself and others.

Code of Conduct for Ascetics :—

Mahavira also prescribed certain rules of conduct for ascetics. These rules are classified under such general heads as the correct behaviour of monks during the several parts of day and night, begging, walking, modes of speech, entry into other's possessions, postures, place of study, and attending to the calls of nature. Here begging includes begging food and drink, begging a bowl, begging clothes, and begging a residence or a couch. Under these subheads are found the rules governing the modes of eating, drinking, and Lying down. Walking includes travelling, crossing, swimming and other forms of movement. The postures are those that are involved in religious exercises. A monk or nun should speak with precision, and the speech should not be sinful.

True monk :—

If a monk is always humble, steady, free from deceit, if he is not proud of his learning, if he listens to friendly advice, if he does not speak ill of his friend behind his back, if he is enlightened, polite, decent and quiet, then he is well-behaved. Free from love, he should live as a model of righteousness, abstaining from sins and versed in the sacred law. Ignorant of abuse and iniquity a steadfast monk should be model of righteousness always protecting his soul from sins; neither rash nor passionate, he should endure everything. He controls himself, keeps the vows, practises austerities and meditates on his soul. A true monk does not care for his life, abandons every delusion, avoids men and women, and does not betray any curiosity. He does not progress and live on divinations. He also abstains himself from spells, roots, every kind of medical treatment, purgatives, emetics, fumigation, anointing of the eye, etc A Jaina monk is forbidden to take beds, lodgings, drinks, food, dainties and spices from the householders. He who does not live by any art, who is without house and without friend, who subdues his senses, who is free from all bondages and sins and who eats little and lives single – he, too, is a true monk.

Bad monk :—

A bad monk is one who despises learning and discipline which his preceptors and teachers have taught him. He is disrespectful to his teachers and preceptors. He is deceitful, talkative, arrogant, greedy and rough. He does not practise austerities. He is not careful in sitting down. He is

careless about his bed. Leaving his own teacher, he follows a heretical one. He lives by fortunetelling, not by alms, and eats the food given by his relations.

On troubles :—

There are twenty two troubles which a monk must learn and know, bear and conquer in order not to be vanquished by them. They are as follows : hunger, thirst, cold, heat, gad-flies and gnats, nakedness, women, to be discontented with the objects of control, erratic life, place for study, lodging abuse, corporal punishment, asking for something, to be refused, illness, the pricking of grass, dirt, kind and respectful treatment, understanding, ignorance, and righteousness.

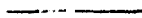
The ten conditions of perfect chastity :—

There are ten conditions for the realization of celibacy. A monk may occupy various places for sleep or rest, but he should not occupy such places frequented by women, cattle, or eunuchs. He should not talk about women. He should not sit together with women on the same seat. He should not look at or think of the charms or beauties of women. He should not eavesdrop behind a screen or wall and listen to the singing or laughing or crying of women. He should not remember the pleasures and amusements which he enjoyed in the past in the company of women. He should not eat well-prepared food. He should not eat or drink to excess. He should not wear ornaments. He should avoid sounds, colours, tastes, smells, and sensations of touch.

The leaf of the tree :—

Just as the yellow leaf of a tree falls to the ground when its days are gone, so does the life of man come to its close. As life is so fleeting and existence so precarious, one should wipe off the sins ever committed. A rare chance is human birth for living beings and hard are the consequences of actions. It is a chance rare enough to become an elect. If one believes in the law, one will surely practise it when the human body grows old and the hair turns white, when the power of the ears, eyes, and the tactile nerves diminishes, when in short, all human power begins to decline.

The reasons why these rules of conduct have been laid down are grounded in such general principles as the avoidance of situations in which the monk or nun may be guilty of hurting or killing all forms of life, or of inconveniencing others, or of wounding the social, moral, or religious scruples of others, the avoidance of situations in which the monk or nun may run the risk of endangering his own position or of receiving bodily injuries, or of feeling discomfort, or of being found guilty of theft or trespass, or of moral degradation, or a mental perturbation, and the avoidance of all situations in which the monk or nun may be found acting under the slightest influence of greed, ill-will, evil intention, discontent, delusion, inconsideration, haughtiness, and the like.



दर्शन खण्ड

CONCEPTION OF MOKSHA

Dr. B. B. Raynade, Ujjain

Human history is a meaningful process, a significant development. The development of personality consists in a complete mastery over nature. Spiritual attainment is not the perfection of the intellectual men but an out-pouring of energy of self-energising process. The metaphysical concept of perfection envisages a state of being that *is*.

Of all the items of the universe the most important one is man himself; and of all the problems that confront the reflective thought of human mind is the attempt at the solution of two problems : ultimate source of the universe and the nature of ultimatum of life, as was thought by the most ancient seers of the *Vedas*, the thinkers of *Upanishada*, the philosophers of Jainism and Buddhism, is a riddle to solve. Though the problems are the same, the way of solving them are different and divergent; and the reason is not far to seek : whereas to the Vedic seers or rsis what was most awe inspiring was not so much the moral law within but starry heavens above. For, to them the heaven is an essentially the abode of the gods;

All schools of thought use different terms for the transitoriness, the logical result of which is evil and suffering; e. g., jagadvyapara, samsara, vyavahara. prapanca. The question is inevitable; where there is any way out of this wheel, any deliverance of death. "It is the aim of religion to lift us from our momentary meaningless provincialism to the significance and, status of the eternal, to transform the chaos and confusion of life to that pure and immortal essence which is its ideal possibility.¹ "Faith in the purifying power of tapas or asceticism was strong. Tapas is to enrich the inward life by purging of all the false abstractions, kasayas or passions; self-purification, however, is not the highest spiritual end but it only a means to the highest end which is Moksha or freedom of the life absolute and transcendental; in the words of the microscopic observer of philosophical truths, 'All activity for moksha (as distinct from svarga)—activity as opposed to self-surrender—where the good is conceived as absolute and not as co-ordinate with evil, not, in other words, as satisfying an interest is super-religious. Self knowledge, for example is a super-religious good in Vedanta; so is bhakti in Vainava system;² every human being can rend the veil of separateness and gain the recognition of his true nature and oneness with all beings. The *Upanisada* develop this character of life eternal.

The concept of Life Eternal or the Doctrine of Moksa.

The highest ideal is a state of freedom the bonds of the empirical life; this implies both negation and affirmation; negation, so far as reaffirmation or restoration of it from a higher standpoint; thus the Nyaya, the Samkhya and the Sankara Vedanta all conceive the highest ideal as the negation of the phenomenal life, whereas Ramanuja contends this negation as a step to reaffirmation of experience from the absolute standpoint. In Nyaya and Vaisesika the negative attitude is more emphatic than in Vedanta system where we find Blessedness or knowledge besides being the negation of all that is empirical.

Jain Dogmatics and Moral and Spiritual Discipline :—

The Jain moral discipline is a very comprehensive system; this aspect has very close affinity to the Jain Dogmatics; it is somewhat as follows : who is Apta ? He who is free from worldly desires. What is the means of knowing him ? A sastra free from contradictory statements. What contributes religious—austerities ? Extermination of all desire for worldly objects. What is Jiva ? that which possesses self-experienced—attributes such as the intellectual faculty. What is a vow ? The extermination of desire preceded by the acquisition of faith. Reasoned belief in the categories recognised by Jainism. What are the categories ? They are the agencies which uphold the universe ? We cannot answer all these questions exhaustively in this chapter as they have been answered in the relevant contexts of the present work; what we are here concerned with is the critical analysis of Samyaktva and philosophical vindication thereof.

If deliverance is to be achieved, the lower matter has to be subdued by the higher spirit. When the soul is free from the weight which keeps it down, it rises up to the top of the universe where the liberated dwell. We shall have more elaborate discussion in due course. The radical conversion of the inner man is the way to freedom. The path laid out by the Jainas runs : samyag darsan jnana charitrani moksa margah.³ Thus, to attain liberation, one must have Perfect Faith, Perfect Knowledge and Perfect Conduct. These are technically known as the Three Jewels in Jaina works. The three jewels are means to liberation from the ordinary point of view. But really these three jewels cannot exist elsewhere than in the soul; so, to be accurate, it is the soul which can produce liberation. This will be emphasised in, 'the three jewels do not exist in any other substance excepting the soul. Therefore, the soul surely is the cause of liberation.'⁴ The soul attains liberation when it is possessed of certain characteristics. Rightly understood faith has a cognitive as well as conative aspect, hence it claims to have a cognitive and conative values; samyagdarsan is the state of pure consciousness; self-knowledge is a super-religious good; without it the conduct has no value; integration of these three reflects the innate divinity of the soul itself; a reintegration of human personality is the meaning of salvation; feeling of unfreedom proves the lack of inwardisation; one is conscious of being unfree in the consciousness of freedom; unfreedom is realised as such in consciously not knowing, feeling or willing what ought to be known, felt or willed. The concept of 'ought' is understood literally in reference to willing and has only a figurative meaning in reference to knowing and feeling. What ought to be known or felt is what is good to know or feel, something that is already known or felt but necessarily wished to be realised, known better by introspective clarification of the presentation of it and felt more intimately by imaginative inwardisation of its significance for the self.⁵

We have a very lucid account of the nature of moksha, the means and the fruits of attaining moksha. Moksha is the highest value, if exiological interpretation is admissible here. It is superior to Dharma, Artha and Kama which do not give absolute happiness; the world of samsara means bondage. The wise sages have said that Moksha consists in the realisation of Paramatman by being free from all the Karman⁶. It is doer of all activities so long as it is conditioned by the physical body. Renunciation is the alpha of spiritual life; renunciation results in self-absorption. Acharya

Kunda Kunda speaks with sure confidence; 'He, who has obtained from unproper and cruel, who is certain about the nature of reality exactly as it is whose soul is peaceful and who maintains perfect asceticism here, will not live long without attaining the fruit (Liberation)'. External non-repentance is attainment of a soul to animate and inanimate objects; Internal non-repentance is attachment to impure thoughts. External non-renunciation is attachment to external objects which he wishes to have in future. Internal non-renunciation is attachment towards impure thoughts which he wishes to entertain and indulge in future.

It is self-transcendence which is the product of unfolding of the jnana, darsan and caritra. The most effective remedy is the, 'the cultivation of that genuine and pure state of the self after fully realising and discriminating the self and the other (than the self) and after giving up (attachment for) the other, is known as Right Conduct'. Mere knowledge or mere faith will not lead to salvation. We shall examine the theories of other schools which have their own moksha-marganas; they suffer from the fallacy of absolute-predication. Vidynanda, in his usual masterly analysis, has subjected other schools to criticism. Here it is sufficient to remark in the words of the spiritual philosopher Kunda Kundaeven knowing the quantity, the nature, the duration, and intensity karmic bondage (the soul) is not liberated. If (it) becomes pure, it frees itself from all (Karmas)' 9

Siddha represents self-realisation; it is the result of self-absorption and self-devotion. From the real point of view the self-devotion, or self-absorption is the-realisation of the real truth belief, knowledge and conduct are the essence of the self. The soul's safety lies in itself. The soul must realise its full independence by realising that it accomplishes its aim only when, and in so far as, it is absorbed in itself. Then alone, matter is important and the non-self stands aloof, incapable of attacking the soul or attaching itself to it; if it fails, it has to wander infinitely suffering the miseries of samsara.

Umaswamin tells us; the liberated soul goes up only upto the top of the universe, because beyond that there is no dharma stikaya, the medium of motion, the Liberated souls are to be known with reference to place, time, condition of existence, sex, whether as a tirthanker or non-tirthanker, conduct, by his own intuition or by the precept of another knowledge, stature, interval, number-less or more in number.

Thus Moksha or liberation is the coming of the self into its own after shedding all inner impurities. Liberation is not-existence nor lack of consciousness. Samadeva puts it, atmalebham vidurmoksam jivasentarmala ksayat nabhavo napyā caitanyam na caitanyam anarthakam; moksha is defined as the state in which the self acquires its own characteristics. What is the nature of Siddha? Really speaking Siddha is without a body, and hence incapable of being perceived by the senses.

Akalanka analyses the nature of moksha in his monumental commentary called Rajavartika on the Tattvartha sutra of Umasvami. According to him, jnana, darsan are co-extensive with anantavirya, hence the denial of anantavirya in the state or moksha is unthinkable; infinite power and infinite happiness cannot exist without infinite knowledge; the soul after reaching the siddhood cannot fall back.

The liberated state of Siddhahood which is a sort of divine republic of Perfect souls, where each self retains its individual personality. Thus Jainism is 'religiously polytheistic' system¹⁰. The Siddha is without visible shape bodiless; Siddha lives there thenceforward into all eternity (nitya) and enjoy the infinite, incomparable, indestructible supernatural happiness of salvation; he remains in his serene rest, freed from the torments of the bodily existence, released from the cycle of births and never returning to it.¹¹

REFERENCE

1. S Radhakrishnan, An Idealist View of Life, p. 123.
2. K C Bhattacharya, Studies in Philosophy, Vol. I. p. 289.
3. TSu 1.1. Vide commentary by H Jacobi : 'darsana Uberaetze ich mit Glauben, obschon as diese Bedeutung nur in der verbindung aarnyag-darsan hat. Etymologisch bedeutet darsan schauen,' "und hat es in der Jaina-Philosophie die Bedeutung Erkennen eines Dinges in Seinem allgemeinen Umrisse oder in seiner begrifflichen Allgemeinheit, ohne seine individuellen Attribute, darsan ist samaryagrahin; dagegen erfapt man mit dem Erkennen, jnana, das Ding mit seiner individuellen Atributen, jnana is visesagrahin—Z.D.M.G., Vol. lx, 1906.
4. Rayanattayam na vattai appanam muyatu annedaviyamhi, Tomha tattiya-mayio hodi hu mokhassa karanam ads,
5. K C Bhattacharya, Studies in Philosophy, p. 284.
6. Jivah so para mokkhu muni jo paramappaya-tahu, Kamma-kalanka-vimukkah naniya bollahi sahu,—p.p. II, 10.
7. ajadhacaravijutto jadatthapadanicchido pasantappa, aphale ciram na jivadi the so sampunna samannoi,
8. janavi mannavi appu pani jo para-bhau cayei, so niu suddhan bhavadahu nanibi caranu hav ei,—p.p. II. 30
9. iya kammavandhananam payesa-payadi-tthidiya-anubhagam/janan-tovi na muncadi muncadi savveja jadivisuddho, SSar., V. 210.
10. Zimmer, Philosophies of India, p. 215
11. TSu, x. 8.9 See
 - x.8 dharmastikaya, bhavat, see SSi on it :
 - x.9 ksetra, kala gali linga tirtha caritra pratyekabuddh bodhita jnanavagashsne-mantar samkhya pabshutvatah sadhyah
12. ccf Siddha cedi,—Sat A, 1.123. see Virasena's commentary :
Siddhab nisthitah nispannah krtakryah siddhasadhyah iti yevat nirkrtasesa karmano bahyarth nirapeksanantanu-pamasshajapra-tipaksasukhah nirupalepah avicatitasvarupah sakatavagunattiteh nisesaganidhanah carama dehatkincinnyunasvadehah kosavi-nirgatasayakopamah lokasikharanivasinah siddha
atthaviha-kamma-vijuda sidibhuda niranjana niehcha atthaguna kidakichcha loyogga-nivasino siddha

जैन दर्शन की आधारभित्ति : अनेकांतवाद एवम् स्याद्वाद

डॉ. महावीर सरन जैन

वस्तु स्वरूप एवम् तत्त्वबोध दृष्टि : अनेकांत एवम् अनेकांतवाद'

अनेकांतवाद—अनेके अन्ता यस्मिन् स अनेकांत—यह स्थापना करता है कि प्रत्येक पदार्थ में विविध गुण (तत्त्व) एवम् अनन्त धर्म होते हैं। पदार्थ अनन्त धर्मात्मक होता है अर्थात् व्यवहार क्षेत्र में सापेक्ष दृष्टि से एक पदार्थ की अन्यों से अनन्त प्रकार की सापेक्षाताएँ होती हैं। विशेष्य के जितने विशेषण हैं—अच्छा, बुरा, छोटा, बड़ा, भारी, हल्का, दूर, पास, ऊँचा नीचा आदि आदि वे सब किसी सापेक्षता में ही हैं। 'अनेकांत' शब्द का अभिधेय जीवादिक पदार्थ का रूप, रस, गन्ध आदि गुणों आदि से संबलित बताना मात्र नहीं है। इसका कारण यह है कि प्रत्येक पदार्थ में अनन्त धर्मों की सत्ता की स्वीकृति तो अन्य दार्शनिकों ने भी की है किन्तु पदार्थ को अनन्त धर्मात्मक मानने वाले सभी दर्शन अनेकांतवादी नहीं हैं। एक वस्तु में वस्तुत्वोत्पादिका परस्पर विरुद्ध शक्तियों का प्रकाशित होना अनेकांत का विशिष्टार्थक है—'वस्तुत्वनिष्पादक विरुद्ध शक्तिद्वय प्रकाशनमनेकांतः।'

इस सम्बन्ध में जो आचार्य अमृतचन्द्र का कथन है कि प्रकृत में जो तत् है वही अतत् है, जो एक है वही अनेक है, जो सत् है वही असत् है, जो नित्य है वही अनित्य है—इस प्रकार एक वस्तु में वस्तुत्व की उत्पादिका परस्पर विरुद्ध शक्तियों का उन्मेष ही अनेकांत है।^१

प्रत्येक पदार्थ स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल एवम् स्वभावरूप से अस्तिरूप एवम् परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल एवम् परभाव के सत्ताभाव के कारण नास्तिरूप या असत् है।

इस दृष्टि से आचार्य समन्तभद्र ने आह्वान किया कि ऐसा कौन सा व्यक्ति है जो चेतन एवम् अचेतन समस्त पदार्थों को स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव की अपेक्षा सत्स्वरूप नहीं मानता और परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल तथा परभाव की अपेक्षा असत्स्वरूप नहीं मानता। उन्होंने स्पष्टतः विवेचित किया कि बिना इसकी स्वीकृति के किसी भी षट् तत्त्व की व्यवस्था सम्भव नहीं हो सकती।

एक वस्तु की अनेक स्थितिजन्य अनेकरूपता स्वीकार कर भगवान् महावीर ने विरुद्ध प्रतीत होने वाले मतवाद एक सूत्र में पिरो दिए। उन्होंने मानव के विवेक को जाग्रुत किया; दृष्टि को व्यापक बनाया। एक निश्चित दृष्टि से ही विचार करने के आग्रह को समाप्त कर उन्मुक्त दृष्टि से विचार करने का मार्ग प्रशस्त किया।

जिसे जानना है—उसका स्वरूप स्पष्ट होना चाहिए इसके लिए ज्ञाता को ज्ञेय के स्वरूप की दृष्टि से अपनी दृष्टि बनानी चाहिए, जानने के सम्यक् प्रविधि का निर्माण करना चाहिए। महावीर ने अपने अन्तःकरण को विवेक के साथ परखा; वे निर्ग्रन्थ बन गए। तत्त्वबोध की व्यापक एवम् सूक्ष्म दृष्टि के कारण ही वह वस्तु स्वरूप का अनेकान्तिक दृष्टि से प्रतिपादन कर सके। उन्होंने निर्भ्रान्त रूप में कहा—

पदार्थ नित्य भी है और अनित्य भी ।

अपनी गुणात्मक सत्ता (ध्रौव्य स्वभाव) की दृष्टि से पदार्थ नित्य है किन्तु पर्याय दृष्टि (उत्पाद-व्यय) से अनित्य है । प्रवाह की अपेक्षा पदार्थ अनादि (शाश्वत) है, स्थिति (एक अवस्था) की अपेक्षा सादि (आदि-अन्त होने वाला)। अव्युच्छेदनय की दृष्टि से पदार्थों में अन्तर होता रहता है । अव्युच्छेदनय की दृष्टि से चेतन और अचेतन सभी वस्तुएँ सदा अपने रूप में रहती हैं ।

इस प्रकार दृष्टि, नय एवम् अपेक्षा से प्रत्येक पदार्थ के विविध गुणों एवम् अनन्त धर्मों का साक्षात्कार अनेकांत है तथा इस अनेकांतिक दृष्टि से देखना ही अनेकांतवाद है । यह सत्य को पहचानने की व्यावहारिक प्रक्रिया है; वैज्ञानिक प्रविधि है । सत्य का सम्पूर्ण साक्षात्कार सामान्य व्यक्ति द्वारा एकदम सम्भव नहीं हो पाता । अपनी सीमित दृष्टि से देखने पर हमें वस्तु के एकांगी गुण, धर्म का ज्ञान होता है । विभिन्न स्थानों पर से देखने पर एक ही वस्तु हमें भिन्न प्रकार की लग सकती है तथा एक स्थान से देखने पर भी विभिन्न द्रष्टाओं की प्रतीतियाँ भिन्न प्रकार की हो सकती हैं । भारतवर्ष में जिस क्षण कोई व्यक्ति 'सूर्योदय' देख रहा है; संसार में दूसरे स्थल से उसी क्षण किसी व्यक्ति को 'सूर्यास्त' के दर्शन होते हैं । व्यक्ति एक ही होता है—उससे विभिन्न व्यक्तियों के अलग-अलग प्रकार के सम्बन्ध होते हैं । एक ही वस्तु में परस्पर विरुद्ध प्रतीत होने वाले अथवा परस्पर सम्भाव्यमान विरोधी धर्मों का अस्तित्व सम्भव होता है । इसमें अनिश्च-यात्मक मनःस्थिति बनाने की बात नहीं है, वस्तु के सापेक्ष्य दृष्टि से प्रतीयमान अथवा सम्भावित विरोधी गुणों को पहचान पाने की बात है ।

एक दृष्टि से देखने से प्रत्येक पदार्थ तत्स्वरूप होता है, काल का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता किन्तु दूसरी दृष्टि से देखने पर जो बच्चा जन्म लेता है उसका स्वरूप बदलता रहता है । इसी प्रकार एक दृष्टि से प्रत्येक पदार्थ एक, अखण्ड एवम् नित्य प्रतीत होता है तथा दूसरी दृष्टि से देखने पर अनेक, विश्लेष्य एवम् अनित्य प्रतीत होता है । एक व्यक्ति 'एक' ही है किन्तु वही पुत्र भी है पिता भी है । किसी के लिए वही कठोर हृदय वाला प्रशासक हो सकता है; किसी के लिए कोमल हृदय वाला प्रेमी । सामान्य व्यक्ति एक ही पेड़ की दो पत्तियों को एक जैसी समझ रहा है वस्तुतः सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर हमें उनमें अन्तर मिल जाता है । विश्लेषणात्मक दृष्टि से जिसे हम 'एक' रंग समझ रहे हैं वह अनेक रंगों का समुच्चय है; जिसे एक पदार्थ समझ रहे हैं उसमें अनेक पदार्थों का मिश्रण है; जिसे एक ध्वनि के रूप में सुन रहे हैं उसमें अनेक ध्वनि गुणों का समाहार है । दूसरी दृष्टि से देखने पर प्रत्येक द्रव्य एक अखण्ड पदार्थ है । 'जल की तरंग' नित्य है या अनित्य है ? जल की दृष्टि से, गुणात्मक सत्ता की दृष्टि से नित्य है किन्तु पर्याय दृष्टि से, तरंग की स्थिति से, उत्पाद-व्यय दृष्टि से अनित्य है ।

अनेकांतात्मक पदार्थ की अभिव्यक्त्यात्मक प्रणाली : स्याद्वाद—

'स्याद्वाद' अनेकांतवाद का समर्थक उपादान है; तत्त्वों को व्यक्त कर सकने की प्रणाली है; सत्य कथन की वैज्ञानिक पद्धति है । अनेकांतवाद की दृष्टि से प्रत्येक पदार्थ

नित्यानित्यात्मक, एकानेकात्मक, सदसदात्मक, भेदाभेदात्मक एवम् नित्य परिणामी है। पदार्थ की इस अनन्त धर्मात्मकता का स्याद्वाद के द्वारा प्रतिपादन किया जाता है। पदार्थ को उसके प्रत्येक कोण से, प्रत्येक छवि से प्रत्येक सन्दर्भ में रखकर देखने एवम् पक्षपात रहित एवम् आग्रह रहित उदार उन्मुक्त एवम् सहिष्णु मनःस्थिति से, तलस्पर्शी विश्लेषण कर उसे समग्र रूप में पहचान पाने की शक्ति 'स्याद्वाद' प्रदान करता है।

मिथ्या ज्ञान के बन्धनों को दूर करके स्याद्वाद ने ऐतिहासिक भूमिका का निर्वाह किया, ऐकांतिक चिन्तन की सीमा बतलायी। जब व्यक्ति अपनी-अपनी डफली और अपना-अपना राग अलाप रहा था और दूसरे के राग एवम् ताल को प्रलाप मान रहा था तब स्याद्वाद ने 'ही' के अहंकार को 'भी' के विवेक से झुकभोर दिया। आग्रहों के दायरे में सिमटे हुए मानव की अन्धेरी कोठरी को अनेकांतवाद ने अनन्त लक्षण सम्पन्न सत्य-प्रकाश से आलोकित किया तथा उसकी बुद्धि के बंद दरवाजों को स्याद्वाद ने खोला तथा अहिंसावादी रूप में विविध दृष्टियों एवम् सन्दर्भों से उन्मुक्त विचार करने के अनन्तर 'सत्य' तक पहुँचने का मार्ग प्रशस्त किया। 'अनेकांत' वस्तु स्वरूप है और स्याद्वाद उस वस्तु के स्वरूप की विवेचना की पद्धति है।

'स्याद्वाद' की निष्पत्ति 'स्यात्' से हुई है। सामान्य अर्थ में यह शायद का अर्थ वाहक है। इसी कारण बहुत से विद्वानों ने स्याद्वाद को संशयवाद के रूप में देखा है। जैन दर्शन में 'स्यात्' निपात 'शायद' सम्भवतः 'कदाचित्' का अर्थवाहक न होकर समस्त सम्भावित सापेक्ष गुणों एवम् धर्मों का बोध कराकर ध्रुव एवम् निश्चय तक पहुँच पाने का वाहक है। 'स्याद्वाद' समस्त सम्भावनाओं एवम् शक्यताओं का मार्ग प्रशस्त कर समस्त सम्भावित स्थितियों की खोज के अनन्तर परम एवम् निरपेक्ष सत्य को उद्घाटित करता है। 'स्यात्' निपात अनेकांत का द्योतक और पदार्थ अनेकांत का द्योत्य है।^१ जिस प्रकार लोक में सिद्ध किया गया मंत्र एक एवम् अनेक अभीष्ट फलों का प्रदायक होता है उसी प्रकार 'स्यात्' शब्द एक तथा अनेक अभिप्रेतों का साधक है।^२

अभिव्यक्ति का माध्यम भाषा : सीमाओं की व्यावहारिक अनुभूति—

अपने विचार एवम् भाव को व्यक्त करने का हमारे एवम् दूसरे व्यक्तियों के पास जो साधन है उसकी सीमाएँ स्पष्ट हैं। शब्द हमें बार-बार धोखा दे जाते हैं। सम्प्रेषणीयता की समस्या बार-बार परेशान करती है। हम कहते हैं एक भाव से; दूसरा समझता है दूसरे भाव से। कहने के लिए कुछ उमड़ता धुमड़ता है किन्तु बार-बार कहने पर भी बात कुछ ही बन पाती है। वस्तु को हम 'नाम' देते हैं किन्तु विशेष्य के पूर्व विशेषण जोड़ने की अनिवार्यता हमें बार-बार अनुभव होती है। 'कैसा' 'कौन' 'कहाँ' 'किसका' प्रश्नों का उत्तर बार-बार देना होता है। विशेषण में 'तर' और 'तम' जोड़ना पड़ता है। हमारा सारा प्रयास अपनी बात को बिलकुल स्पष्ट करने का रहता है किन्तु भाषा की सीमाएँ बार-बार उजागर होती रहती हैं। काल की दृष्टि से भाषा के प्रत्येक अवयव में परिवर्तन होता रहता है। क्षेत्र की दृष्टि से भाषा के रूपों में अन्तर होता है। हम जिन शब्दों एवम् वाक्यों से सम्प्रेषण करना चाहते हैं उसकी भी कितनी सीमाएँ हैं "राधा

गाने वाली है” इसका अर्थ दो श्रोता अलग-अलग लगा सकते हैं। प्रत्येक शब्द भी ‘वस्तु’ को नहीं; वस्तु के भाव को बतलाता है जो वक्ता एवम् श्रोता दोनों के संबर्ध में ‘बुद्धिस्थ’ मात्र होता है। “प्रत्येक व्यक्ति अपने घर जाता है” किन्तु प्रत्येक का ‘घर’ अलग होता है। संसार में एक ही प्रकार की वस्तु के लिए कितने भिन्न शब्द हैं— इसकी निश्चित संख्या नहीं बतलायी जा सकती है। एक ही भाषा में एक ही शब्द भिन्न अर्थों और अर्थ छायाओं में प्रयुक्त होता है। इसी कारण अभिप्रेत अर्थ की प्रतीति न करा पाने पर वक्ता को श्रोता से कहना पड़ता है कि मेरा यह अभिप्राय नहीं था अपितु मेरे कहने का मतलब यह था।

दर्शन की गहराइयाँ एवम् भाषा की लाचारी

जब इन्द्रियों द्वारा गृहीत ज्ञानाधारों की अभिव्यक्ति में भाषा की सीमाएँ प्रकट हो जाती हैं तो इन्द्रिय निरपेक्ष ज्ञान की अभिव्यक्ति के समय भाषा कितनी लाचार हो जाती होगी इसकी कल्पना की जा सकती है। ‘सत्’ की चिन्तकों ने अनुभूति की। अनुभूति के विषय को वाणी देते समय तत्त्वद्रष्टाओं को भाषा की लाचारी का बोध बार-बार हुआ। उपनिषद्कारों ने ‘परब्रह्म’ को इसी कारण ‘नेति-नेति’ कहा⁹, वेदांतिथों ने अनिवर्चनीय कहा क्यों कि वह वाणी का विषय नहीं बनता। महात्मा बुद्ध ने तत्त्व के बहुत से निगूढ़ रहस्यों को अव्याकृत कहकर छुट्टी पा ली।¹⁰

जैन दर्शन तो पदार्थ को अनन्त धर्मात्मक मानता है। जैनाचार्यों ने भी इसी कारण कहा कि आत्मा का किसी भी शब्द द्वारा कथन करना सम्भव नहीं है। उसके जितने भी पर्यायवाची नाम हैं, वे उसके विशिष्ट धर्मों का ही कथन करते हैं। इसी कारण निर्विकल्प आत्मा का ज्ञान कराने के लिए आचार्य कुंदकुंद को ‘राओ जो सोऊ सो चव’ (जो ज्ञात हुआ वह तो वही है) कहना पड़ा।¹⁰

अनन्त स्वरूप संकेतिका वाक्य पद्धति की खोज

यह विवशता है कि तत्त्व दर्शन का निरूपण करना ही होता है। यदि पदार्थ अनन्त धर्मात्मक है तो उसके स्वरूप-विवृति के लिए अनन्त स्वरूप वाक्य पद्धति ही अपेक्षित है। यह पद्धति ही स्याद्वाद है। सप्तभंगी नय इसकी आधारशिला है।

नय-विचार

प्रमाण के अतिरिक्त नय को भी ज्ञान का साधन माना गया है। नय एवम् प्रमाण में भेद है। प्रमाण सकल या समग्र वस्तु का ग्राहक है अतः सकलादेशी कहलाता है। नय के द्वारा किसी वस्तु के एक देश या अंश का ज्ञान प्राप्त किया जाता है। ‘प्रमाण’ के द्वारा अनन्तधर्मात्मक वस्तु का सर्वांश अखण्ड ज्ञान होता है किन्तु ‘नय’ के द्वारा वस्तु का अंशतः ज्ञान होता है। सर्वांशग्राही प्रमाण की अपेक्षा वस्तु एकांतस्वरूप है। अंश-ग्राही नय की अपेक्षा एकांतरूप है। ‘नय’ प्रमाण का एकदेश है।

‘प्रमाण’ के द्वारा हमें समस्त धर्मों के साथ वस्तु का ज्ञान प्राप्त होता है जैसे यह कलश है। यह वस्तु का अखण्ड या समग्र ज्ञान है। यही ‘प्रमाण’ है। किन्तु रूप

‘रस गंधादिक की दृष्टि से जब हमें पृथक्-पृथक् ज्ञान होता है’ (‘रूपवान् कलशः’ ‘स्पर्शवान् कलशः’ ‘गंधवान् कलशः’ इत्यादि) तब यह ज्ञान नयज्ञान का अभिधान प्राप्त करता है ।

‘नय’ ज्ञाता का ‘विशिष्ट अभिप्राय’ है : ‘नयो ज्ञातुरभिप्रायः’^{११} सापेक्षता ही नय की आत्मा है ।

सम्यक् एकान्त नय है एवम् सम्यक् अनेकांत ‘प्रमाण’ है । ‘प्रमाण’ सम्यक् ज्ञान की अवधारणा को निर्दिष्ट करता है, ‘न्याय’ पदार्थों की विविध पक्षों, आकारों, स्वरूपों, दशाओं, अवस्थाओं में रखकर देखने की दृष्टि है । इस दृष्टि से प्राप्त ज्ञान का निरूपण ‘सप्तभंगी’ द्वारा होता है; एक पदार्थ की विविध रूपों में देखी गयी छबियों, भंगिमाओं की सात प्रकार से स्थापना कर सकने की भाषिक-शैलियाँ ही ‘सप्तभंगी’ हैं । अनेकांतवाद सर्वतयात्मक है । जिस प्रकार बिखरे हुए मोतियों को एक सूत्र में पिरो देने से मोतियों का सुन्दर हार बन जाता है उसी प्रकार भिन्न-भिन्न नयों को स्याद्वादरूपी सूत्र में पिरो देने से सम्पूर्ण नयों को श्रुत प्रमाण कहा जाता है ।

सप्तकारक वचन विन्यास : सप्तभंगीनय

सप्तकारक वचन विन्यास का अभिधान ही ‘सप्तभंगीनय’ है जिस पर स्याद्वाद का भवन निर्मित है । सप्तकारक वचन विन्यास से वस्तु के अनन्त धर्मों के अभिव्यक्तीकरण की दिशा में तत्व चिन्तक को सही दिशा एवम् शक्ति प्राप्त होती है ।

हम किसी भी वस्तु के स्वरूप को सप्तविध नयों या परामर्शों द्वारा अभिव्यक्त कर सकते हैं—

- (१) ‘स्यात् अस्ति’— अर्थात् किसी की अपेक्षा से (घट) विद्यमान है (घट का अपने द्रव्य, काल, भाव क्षेत्र आदि की अपेक्षा अस्तित्व है)
- (२) ‘स्यात् नास्ति’— अर्थात् किसी की अपेक्षा से (घट) नहीं है । (दूसरे पदार्थ के द्रव्य, काल, भाव, क्षेत्र आदि की दृष्टि से घट नहीं है ।)
- (३) ‘स्यात् अस्ति नास्ति च’— अर्थात् किसी दृष्टि से घट है भी और नहीं भी (घट स्वरूप की दृष्टि से है किन्तु पररूप की दृष्टि से नहीं है । अर्थात् अपने क्षेत्र, काल, द्रव्यादिक की दृष्टि से है किन्तु दूसरे क्षेत्र काल, द्रव्यादिक की दृष्टि से नहीं भी है अतः घट उभयरूप है ।)
- (४) ‘स्यात् अवक्तव्यो’— अर्थात् किसी अपेक्षा से अवक्तव्य है । (अवक्तव्य अस्ति एवम् नास्ति दोनों का मिश्रित रूप है । उदाहरण घट का वर्ण इयाम एवम् रक्त दोनों है । परिपक्वावस्था के पूर्व घट इयाम वर्ण का है, रक्त

वर्ण का नहीं है। परिपक्व होने के अनन्तर वह रक्त वर्ण का है किन्तु श्याम वर्ण का नहीं है। जब घट का परिपाक हो रहा है (श्याम वर्ण से रक्त वर्ण में परिवर्तन हो रहा है) तब अस्ति-नास्ति उभयविध है। अस्ति-नास्ति दोनों की सत्ता युगपत् होना सम्भव नहीं है अतः घट का वर्ण अवक्तव्य है।)

(५) 'स्यात् अस्ति अवक्तव्यो'— अर्थात् किसी अपेक्षा से (घट का) अस्तित्व है तथा (घट) अवक्तव्य भी है। (किसी दृष्टि से द्रव्य, क्षेत्र, काल, आदि से घट का अस्तित्व है किन्तु जब इसका स्पष्टतया निदर्शन न हो सके तो घट अवक्तव्य है। उदहारण घट रक्त वर्ण का है किन्तु जब वर्ण का स्पष्ट निदर्शन न हो तो घट अवक्तव्य है।)

(६) 'स्यात् नास्ति अवक्तव्यो'— अर्थात् किसी अपेक्षा से (घट) नहीं है तथा अवक्तव्य भी है। (घट अपने से भिन्न पदार्थ के क्षेत्र, द्रव्य, काल, आदि की दृष्टि से नहीं है तथा इसकी स्पष्ट स्थिति न होने के कारण अवक्तव्य भी है।)

(७) 'स्यात् अस्ति नास्ति अवक्तव्यो'—

अर्थात् किसी अपेक्षा से (घट) है, नहीं है एवम् अवक्तव्य है। (घट स्व द्रव्य, काल एवम् क्षेत्रादिक की दृष्टि से है किन्तु परद्रव्य काल एवम् क्षेत्रादिक की दृष्टि से नहीं है। स्पष्ट स्थिति न होने से अवक्तव्य भी है।)

बौद्धदर्शन के अव्याकृत में अस्ति, नास्ति, उभय एवम् नोभय के दृष्टान्त मिलते हैं। यह सत्ता की चतुष्कोटिसंवलित स्थिति है। वेदान्त में भी चतुष्कोटिक तर्कों की विवेचना प्राप्त होती है। शेष तीन कोटियों की प्रभावना केवल जैन दर्शन में ही मिलती है; अन्यत्र नहीं।

स्याद्वाद की अंगभूति सप्तभंगी लक्षण भिन्न है—“प्रश्नवशादेकस्मिन् वस्तुन्य-विरोधेन विधिप्रतिबेधकल्पना सप्तभंगी” (प्रश्नानुसार एक वस्तु में प्रमाण से अविरोध विधि एवम् प्रतिबेध रूप धर्मों की कल्पना सप्तभंगी है।)

वस्तु स्वरूप को पहचानने एवम् अभिव्यक्त करने की वैज्ञानिक प्रणाली—

भगवान महावीर को जानने का रास्ता अज्ञात से ज्ञात का नहीं, ज्ञात से अज्ञात की ओर का है। अनन्त धर्मात्मक वस्तु को हम अपनी एकांतिक दृष्टि से एकदम नहीं समझ सकते किन्तु वस्तु के एक-एक पक्ष, गुण, धर्म को क्रमशः जानते हुए अंततः उसे समग्र रूप से जान पाने का मार्ग चुन सकते हैं। महावीर ने यही मार्ग चुना।

उन्होंने वस्तु के अनेक गुणों एवम् अनन्त धर्मों को प्रत्येक दृष्टि से जानकर समग्र रूपमें पहचान पाने तथा सत्य की प्रत्येक सम्भावनाओं को अभिव्यक्त करते हुए तत्व निरूपण का मार्ग प्रशस्त कर निषेधात्मक चिंतन नहीं अपितु तल चिंतन के प्रत्येक पक्ष का विधानात्मक रूप प्रस्तुत किया।

हम यदि ऊपरी मंजिल तक पहुँचना चाहते हैं तो जमीन से उछलकर एकदम नहीं पहुँच पाते, एक-एक सीढ़ी चढ़कर अपना लक्ष्य प्राप्त करते हैं। 'स्यात्' शब्द भी पूर्ण सत्य की अभिव्यक्ति का माध्यम है, तरीका है। यह द्रष्टा को उसकी सीमाओं से अवगत कराए रहता है तथा वस्तु को उसके एक-एक धर्म की मुख्यता से बतलाते हुए उसे समग्र रूप से देख सकने, वस्तु के विरोधी प्रतीत होने वाले गुणों का अपेक्षा से कथन कर तथा प्रतीतियाँ कराकर उसके अंतिम सत्य तक पहुँच सकने की क्षमता एवम् पद्धति प्रदान करता है। अनेकांत स्वरूपात्मक वस्तु को सापेक्ष दृष्टि से सम्यक् एकांत रूप में देखकर नयों की अपेक्षा से उसके एक-एक धर्म को पहचानने के अनन्तर एकांतों के विरोध को समाप्त करना है।

महावीर की स्याद्वादी कथन शैली—

महावीर ने अपने युग के तार्किक दार्शनिकों की जिज्ञासाओं का स्याद्वादी कथन शैली से समाधान किया। प्रश्नों का विरोध महावीर का उत्तर पाकर शान्त संतुष्ट हो गया।

गौतम को जिज्ञासा थी कि जब जीव गर्भ में प्रविष्ट होता है तब यह सेन्द्रिय होता है या निरिन्द्रिय? महावीर ने उत्तर दिया कि कथंचित सेन्द्रिय प्रविष्ट होता है और कथंचित निरिन्द्रिय।

जिज्ञासा शान्त नहीं हुई। उत्तर ने उलझा दिया। गौतम ने पुनः प्रश्न किया—यह कैसे?

भगवान् ने उत्तर दिया—'द्रव्येन्द्रियों की अपेक्षा सेन्द्रिय प्रविष्ट होता है और भावेन्द्रियों की अपेक्षा निरिन्द्रिय।'^{१२}

पहले तो सुलभ गया था, अपेक्षा से समझाने पर बिलकुल साफ हो गया।

अपेक्षा से बतलाने पर विरोधी प्रतीतियाँ स्वतः समाप्त हो जाती हैं, एक-एक धर्म की मुख्यता से बतलाने पर भी कथन शैली के कारण वस्तु की अनन्त धर्मात्मकता की तरफ ध्यान बना रहता है।

स्याद्वाद : सत्य की खोज

शोध की यात्रा पूर्वानुमान से आरम्भ होती है, विवेच्य विषय के पूर्ण साक्षात्कार तक अनवरत चलती रहती है। कभी-कभी हम किसी तथ्य को सत्य समझ लेते हैं और लगता है कि प्रश्न का उत्तर मिल गया। दूसरा गवेषक आता है विचारता है और हमारी स्थापनाओं की अप्रमाणिकता सिद्ध कर देता है इसी कारण सत्य के खोजी को समस्त पूर्वाग्रहों को छोड़कर विवेकपूर्ण ढंग से संधान ही नहीं, अनुसंधान करना होता है।

जब कोई व्यक्ति खोज के मार्ग में किसी वस्तु के सम्बन्ध में अपने 'संघान' को अंतिम मानकर बैठ जाना चाहता है तो स्याद्वाद सम्भावनाओं एवम् शक्यताओं का मार्ग प्रशस्त कर अनुसंधान करने की प्रेरणा देता है। स्याद्वाद केवल सम्भावनाओं को ही व्यक्त करके अपनी सीमा नहीं मान लेता प्रत्युत समस्त सम्भावित स्थितियों की खोज करने के अनंतर परम एवम् निरपेक्ष सत्य को उद्घाटित करने का प्रयास करता है। जयशंकर प्रसाद का कथन है—

इस पथ का उद्देश्य नहीं है श्रांत भवन में टिक रहना
किन्तु पहुँचना उस 'सीमा' पर जिसके आगे राह नहीं है

स्याद्वाद उस 'सीमा' पर केवल एकांगी मार्ग द्वारा नहीं अपितु उस सीमा तक पहुँचने वाले समस्त मार्गों का अवलोकन उनकी खोज एवम् परीक्षण करके पहुँचना चाहता है।

यह दर्शन व्यवहार दृष्टि से वस्तु में अन्तर्विरोधी गुणों की प्रतीति कर लेने के उपरान्त 'निश्चय' द्वारा उसको उसके समग्र एवम् अखण्ड रूप में देखने का दर्शन है। हाथी को उसके भिन्न-भिन्न खण्डों से देखने पर जो विरोधी प्रतीतियाँ होती हैं उसके अनन्तर उसको उसके समग्र रूप में देखना है। इस प्रकार यह संदेह उत्पन्न करने वाला दर्शन न होकर संदेहों का परीक्षण करने का उपरान्त परिहार कर सकने वाला दर्शन है। यह दर्शन तो शोध की वैज्ञानिक पद्धति है। "विवेच्य" को उसके प्रत्येक स्तरानुरूप विश्लेषित कर विवेचित करते हुए वर्गबद्ध करने के अनन्तर संश्लिष्ट सत्य तक पहुँचने की विधि है। विज्ञान केवल जड़ का अध्ययन करता है। स्याद्वाद ने प्रत्येक सत्य की पूर्ण खोज की पद्धति प्रदान की है।

उद्धरण

- १ विस्तृत अध्ययन के लिए द्रष्टव्य :
 - (क) उमास्वाति-तत्त्वार्थ सूत्र
 - (ख) समन्तभद्र-आत्ममीमांसा
 - (ग) सिद्धसेन-३२ द्वारित्रिशिका ।
- २ आचार्य अमृतचन्द्र - समयसार आत्म ख्याति टीका, परिशिष्ट पृ. ५७१-५७२ ।
- ३ उत्तराध्ययन ३६-८० ।
- ४ भगवती सूत्र ७-३ ।
- ५ आत्म मीमांसा-१०३ (आचार्य समन्त भद्र) ।
- ६ तयचक्र-२५१ (आचार्य देवसेन) ।
- ७ वृहदारण्यकोपनिषद् २-३-११; ४-२-११ ।
- ८ यतो वाचो निवर्त्तन्ते, अप्राप्य मनसा सह—तैत्तरीयोपनिषद् २-४ ।
- ९ मज्झिम निकाय (चूल मालुक्य सुत्त ६) ।
- १० समय प्राभृत-६ ।
- ११ लघी. श्लो. ५५ ।
- १२ व्याख्या प्रज्ञप्ति : १.७. सू. ६१ ।



ATOMISM IN JAIN PHILOSOPHY

(A comparative study with Atomism in Vaisesik, Samkhya, Bouddha and Greek Philosophical Systems.)

M. M. Bokadia

School of Studies in Chemistry,
Vikram University, Ujjain (M. P.)

In Jaina thought all things are divided into Ajivaka (Lifeless) and Jivaka (lives). The former is again divided into Pudgala (Matter) dharma, and adharma, Akasa and Kala. Last four Categories are immaterial and may be named as merit, demerit space and time. Pudgala is alone the vehicle of energy which is essentially, kinetics i. e. of the nature of motion. Every thing in the world of not soul i. e. non ego is either an entity or a charge state in the entity. Pudgala (matter) and its charge state, whether of the nature of subtle motion or evolution, must furnish the physical as opposed to the metaphysical basis of all our explanations of nature. Pudgala (matter) exists in two forms—Anu (atoms) and Skandha (aggregate). According to B. N. Seal: The jainas begin with absolutely homogeneous mass of Pundgals which by differentiation breaks into several kinds of atoms, qualitatively determined, and by differentiation, the integration and differentiations in the integrated forms aggregates (Skandhas). An anu has no parts, no beginning, middle or end. An anu is not only infinitesimal but also eternal and ultimate. Two or more atoms may combine to produce a Skandha (aggregate) which is a perceivable object. The physical world is characterised by Mahaskandha. The Jainas hold that only Kevalis (Vairagis) can perceive atoms. A Skandha may vary from a binary aggregate to an infinitum. A binary Skandha is an aggregate of two anus; a tertiary Skandha is formed by the addition of an atom (anu) to the binary and so on add infinitums. The ascending grades are (i) what can be numbered. (ii) indefinitely large (iii) infinity of first order (iv) infinity of the second order and so on.

Atoms (Anu) and Pudgalas

The specific characters of the pudgalas (matter) are of two kinds, (i) those which are found in atoms as well as in aggregates and (ii) those which are found only in aggregates. Qualities of touch taste, smell and colour, come under the first head. The original pudgalas being homogeneous and interminate, all sensible qualities, including the infra sensible qualities of atoms, are the results of evolution. Every atom thus evolved possesses an infra sensible (or potential) taste; smell and colour (one kind of each) and touch:

स्पर्श रस गंध वर्णवन्तः पुद्गलाः (तत्त्वा. ५/२३)

These qualities themselves are attributeless.

द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः (तत्त्वा. ५/४०)

The quality of touch could be looked upon as two infrasensible tactile qualities eg. a certain degree of roughness or smoothness (or dryness or moistness ?) and of heat or cold.

एय रस वण्ण गंधं दोकासं सहकारणमसहं । (पंचा. गा.८)

Earthatoms, apatoms etc. are but differentiating of the originally homogeneous pudgalas. The tactile qualities appeared first but qualities of taste, smell and colour are involved in the possession of tactile qualities. An aggregate (Skandha) whether binary, tertiary or of a higher order, possesses (in addition to touch, taste and smell and (colour) the following physical characters; (a) Sound (b) atomic like i.e. mutual attraction or repulsion of atoms (d) dimensions, small or great (d) figure (e) divisibility (f) capacity and casting of shadow and radiant heat and light.

शब्द बन्ध सौक्ष्म्य स्थौल्य संस्थान भेद ।

तपश्छाया तपोद्योतवन्तश्च (तत्त्वा. ५/२४)

Vaisesika and Jain Systems on Sabda

Jainas consider sabda, not as a Guna (attribute) of Akasa as is considered by Vaisesikas. Sabda is taken as a pudgal. Sabda (sound) can break diaphragm of ear, it can be stopped and it produces vibrations in Poudgalik atmosphere, hence it must be poudgalik in nature

Classes of Pudgal Skandhas

Skandhas, produced from Pudgals. have been said to be of six types in Niyams Sara.

- (1) Extremely large, (ati Sthul-Sthul) अति स्थूल-स्थूल; बादर-बादर
- (2) Sthul (स्थूल) (Large) बादर
- (3) Large-Small (स्थूल-सूक्ष्म)
- (4) Small-large (सूक्ष्म-स्थूल)
- (5) Small (सूक्ष्म)
- (6) Extremely small (Ati Sukshma) अति सूक्ष्म

अइथूल थूल थूलं सहुमं च सुहुमथूलं च ।

सुहुमं अइसुहुमं इति धरादियं हाइ छन्मेयं ॥

(नियमसार-भा. २१.२४)

Explanation

(1) Extremely large-Large:—Those Skandhas which on breaking can not reunite themselves eg. wood, stone etc.

(2) Large (Badar):—Those which can reunite after breaking eg. oil, water, milk.

(3) Large-Small:—Those which are apparently large but which can not be pierced or taken up eg. Shadow, darkness, light etc.

(4) Small-Large:—Which are apparently large although in reality they are small eg. attributes of senses of perception eg. Rupa, Rasa, Gandha, Sparsa, Sabda.

(5) Small:—Those which can not be caught by sense organs. eg. actions. (कर्म)

(6) Extremely small (अति सूक्ष्म) Dyanuka Skandhas Smaller than Karma Varga are deemed as atisukshma Skandhas.

Jainas and Vaisesikas on Samanya and Visesa

Like Vaisesikas, Jainas also believe in Samanya and Visesha. Padarth (Matter) which is made up of Anu (Pudgalas) is associated with three fundamental sign (त्रिलक्षण) i. e. production stability and annihilation (उत्पाद, द्रव्य, व्यय) Generation, Operation, Destruction (G. O. D.) There is no form of matter which does not undergo change. Every form of matter is based for many Paryayas and attributes

गुण पर्यायवद् द्रव्यम् (तत्त्वा. ५/३८)

Every Padarth is associated with Dravya, Paryaya, Samanya and Visesa (of vaisesikas)

Pudgalastikaya. (पुद्गलास्तिकाय)

Pudgals undergo changes due to combination (संघटन) and breaking (विघटन) Each action of Jiva is expressed through Pudgala, s only. A Jiva comes under bondage (बंध) due to Karma Pudgalas. Jiva gets velocity due to karma bandhanas.

Four Parts of pudgals:

Pudgala Dravya posseses four parts:

(1) Skandh (2) Skandha Desha (3) Skandha Pradesha and (4) Paramanu.

खंधा य खंध देसा खंद पदेसा य होति परमाणू ।

इति ते चतुर्विद्यप्पा पुग्गल काया पण्यब्बा ॥ (पंचा. गा. ७४-७५)

For the construction of a Skandha, infinite atoms are required. For Skandha Desha, half of the atoms are required than those for Skandha (How and why?). For Skandha Pradesha; half of the atoms required for Skandha Desa are required.

paramanu is of course indivisible. It is अनादि, अमध्य, अप्रदेश
BONDS BETWEEN ATOMS (Chemical Combination.)

Valency Theory :

The most remarkable contribution of the Jainas of the atomic theory relates to their analysis of atomic linkage, or the mutual attraction or repulsion of atoms, in the formation of molecules. The question is raised in Umaswati's, Jain Sutra's, what constitutes atomic linkages. Mere Juxtaposition of atoms does not form linking. There must be a proper expression of affinity before linkage is established. Two combining particles must have opposite qualities, say positive and negative, or roughness and smoothness (dryness and viscosity). If the qualities although opposed are very feeble, no linking is possible. Two similar atoms do not combine in general, however, if the strength or intensity of the one is twice as great as that of the other, or exceeds that proportion then even similar particles may combine. Physical characters and changes in state depend on this linking, When particles of equal intensity (negative and positive) modify each other, there is mutual action, in case of unequal intensity, the higher intensity transforms the lower it being apparently thought that an influence proceeds from higher to lower. This appears to be crude anticipation of mechanism of induction phenomenon in electronic theory of valency. Ideas of Umaswati might have been based on observation of electrification of smooth and rough surfaces, as the result of rubbing. These ideas incidently may be compared to the Dualistic hypothesis of chemical combination put forth by Berzelius.

Bouddha-Atomism.

The buddhists recognize matter in terms of atoms perceptible (anu) and imperceptible Parmanu, the former being aggregate of latter. There are according to Buddhist view, four fundamental and four secondary atoms. Atoms of earth (soild), water (liquid), fire (heat) and air (gas-kinetic, moving) are fundamental, while those of colour, odour, taste and touch are secondary ones—Thus Buddhist's consider qualities also in terms of atoms. It may be pointed out that Sankhya's consider qualities interms of tanmatras. Every secondary atom requires four fundamental atoms for its support and the aggregate is imagined to consist of 20 atoms (4x4x4). The earthy atom is considered to be a force of repulsion, waters atom as of attraction, firey atom as of heat energy and airy atom as of kinetic energy. The

atoms of Buddhist school represent dynamic forces and this is understandable in the light of momentary existence (Kshanika Wada, क्षणिक वाद Sarvam Prithak Sarvam ksanika. Bouddh atomism differs widely from that of Vaisesika which does not recognise atoms with reference to qualities and who recognises, adrista for the formation of matter from atoms. Jainas conceive of bonding or linking forces, they also do not believe in Adrista. The Vaishasikas and Santantikas of Buddhist cult hold that the vayu atoms are touch sensibles having impact or pressure for their characteristic property, and by aggregation forms the element vayu, the tejas atoms are colour and touch sensible, having heat for their characteristic, and by aggregation for the tejas Bhuta, the atoms are taste-colour and touch sensibles with a characteristic viscosity, and form the ap element, by aggregation; and finally the earth atoms are smell, taste, colour and touch sensible, possessing a characteristic dryness or roughness, and by their aggregation form the earth element the Bhutas, thus originated, combine to form aggregates, which are classed as inorganic substances, organism and organs.

Vaisesika Nyaya Atomisms

Vaisesika believes in six Padarthas (1) Dravya द्रव्य (2) Guna गुण (3) Karma कर्म (4) Samanya सामान्य (5) Visesa विशेष (6) Samavaya. समवाय

There are nine types of Dravya. (1) Prithvi, (2) Ap. (3) Teja (4) Vayu (5) Akash. (6) Kala. (7) Dig (8) Atma and (9) Mana.

पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाश कालो दिगात्मा मन इति द्रव्याणि । (Vaisesika, 1/115)

There are seventeen Gunas in these Dravyas.

रूप रस गन्ध स्पर्श संख्या परिणामास्ति पृथक्त्व
संयोग वियोगी, परत्वापरत्वे बुद्धयः सुख दुःख
इच्छा द्वेषी प्रयत्नान्च गुणाः (वैशेषिक ६।१।)

In Prashasta Pada Bhasya Seven more Gunas have been included.

च शब्द

First five Dravyas out of Nine-Dravyas of Vaisesika are named as Bhuta by Goutam in his nyaya Sutra's.

पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशमिति भूतानि (न्याय १।१।१३)

These, five Bhutas have Gandha etc. five Gunas.

गन्ध रस रूप स्पर्श शब्दाः पृथिव्यादि गुणाः स्तदर्थः। (न्याय, १।१।१४)

In Nyaya Sidhdhant Muktavati atom has been defined as परमाणु : परमसूक्ष्म आद्यवयवः; स्वयं निखयवो अतीन्द्रियो नित्य i.e. atom is smallest, original, indivisible, immortal particle. It is spherical and measurable.

There are four fundamental elements i. e. earth, water, light (Agni) and air. Akasa is not an element. Gunas reside in Parmanus they are absent in Akasa, ते आकाशे न विद्यन्ते (ब्रह्माद सूत्र २१।५)

Atoms are continuously in motion as is clear from the following statement of Raghunath Siromani : अनवरत परिस्पन्दमाना परिमित पवनादि परमाणवः । This motion may be circular, pendulum like or zigzag or in straight lines. Original Vaisesika Sutra's do not make clear distinction between Anu and Paramanu. Formation of bimolecular, trimolecular, tetramolecular, homo and hetero aggregates, has been explained in details. Visiesikas have considered motion and action also in details. Kiranavali of Udayan deals with this aspect at length. Chemical action or changes are possible only in Prithivi atoms (71,7/116 Pila paka vada and Pithara Paka vada worth attention.) It is suprising indeed that Kinetics and Mechanism of atomic combinations have been considered in Nava Ksana नवक्षणा प्रक्रिया एवम् (Five Ksana Prakriya) पंचक्षणा प्रक्रिया । Vaisesika Philosophy is supposed to have been established in general 600 E. C. While Nyaya system of Goutam was founded during about 500 B. C.

(Kapil-Patanjali System)

Samkhya System believes in existance of five Major fundamental elements (पंच महाभूत), Kapil was a very deep thinker with sharp intellect and pointed developed intiution. He is taken as an Avatar Krishna says in Geeta : सिद्धानास् कपिलो मुनिः

Thus Kapil holds very high esteem amongst Indians. He has considered even the origin of atoms. Atoms are produced from tanmatras; Infra-atomic particles. Tanmatras originate from still subtler Bhutadi—Bhutadi has its origin in Ahamkar through Mahat which is produced due to interaction of Prakrati and Purusa during disturbances, in the state of equilibrium of three fundamental Gunas i. e. सत्त्व, रज and तम, sentient, mutative and static principles.

Without going into details, it may be pointed out that while Vaisesika, Jaina, Bouddha, Greek etc. all classical systems have thought of only atoms, Sankhya has peeped deepest and via Tanmatra भूतादि-अहंकार-महत् प्रकृति पुरुष it has tried to consider ultimate origin of universe. While even modern natural sciences Chemistry, Physics etc.

do not explain as to how from matter-mind is evolved and what is its mechanism? Sankhya has gone deep in this respect. It has connected matter with mind. Concept of Atma is absent in all the three systems of Philosophy. Iswara was also not clearly defined. Iswara, perhaps comes first in Yoga system of Philosophy.

Jaina, Boudhdh, Samkhya, Vaisesika do not believe in the present day type concept of God or Iswara. According to Samkhya mental World is not created by atoms it has entirely different branch of origin. Whereas Jainas and Vaisesikas consider every thing originating in or connected with atoms, in some way or another.

Greek Atomism

Before a comparative study of Greek and Indian Atomisms is attempted, it would be worthwhile to trace the development Greek atomism.

Two divergent views regarding ultimate origin of matter attracted Greek mind during 500 B. C. Heraculitus (502 B. C.) said that all things were in a state of flux and continuous change, five being the primary principle bringing the change. Parmend's and Eleatic school (5000 B. C.) emphatically denied all motion and changes and led an attack on perceptions. Pythagorians found reality in numbers as definite fundamental entities. Empedocles (450 B. C.), however, accepted the hypothesis of four fundamental elements and introduce in them possibilities of change and motion love and hatred, attraction and repulsion, etc.

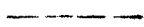
Lucipous and Democritus (430 B. C.) tried to go to the roots of these four elements and developed a theory of atoms. Whereas Pythagorean thought of numbers and geometrical points, and the space confining, Democritus imagined of atoms having bulk, being physically indivisible, but spatially divisible. On this back ground flourished Greek atomism later on. A chronological development can be founded in Partington and Holmyard.

Vaisesika and Greek atomisms have been compared and contrasted by Subbarayappa.

Jain Atomism and other systems

Incidentally, at many places, we have compared Jain atomisms with Vaisesika, Boudha, Samkhya systems.

It may be pointed out that the concept and philosophical and technical terminology regarding Pudgalas and Skandha's were of Jainas, own. Concepts of Jiva and Ajiva; Astikaya etc. are their original ideas. These were not influenced by Greek Philosophers.



निश्चय नय - व्यवहार नय

(दयाचन्द्र शास्त्री, उज्जैन)

मोक्षमार्ग में आत्म साधना के लिए तत्त्वज्ञान व तत्त्वज्ञान के लिए नय ज्ञान अत्यावश्यक है। अध्यात्म ग्रन्थों में निश्चय नय व व्यवहार नय से तत्त्व विवेचन इसी दृष्टि से किया गया है कि मुमुक्षु दोनों नयों से आत्मतत्त्व का यथार्थ निर्णय कर मोक्षमार्ग में प्रवृत्त हो, अन्यथा मुक्ति के लिए की गई आत्म-साधना फलवती नहीं हो सकती।

बुद्धिबहुता जिहावयसां, पच्छा रिणजकज्ज संजुआ होइ ।

अह्वा तंबुल रहियं, पलास संभ्रगणं सव्वं ॥ नयचक्र ॥

तात्पर्य यह कि सर्वप्रथम जिनवाणी का मर्म समझो तत्पश्चात् आत्महित में लगे, अन्यथा मुक्ति के हेतु किया गया पुरुषार्थ चावल प्राप्त किए बिना केवल पुआल कूटने के समान है। अतः मोक्ष मार्ग में दोनों की उपयोगिता पर विशद प्रकाश डालना उपयुक्त होगा।

आचार्य उमास्वामी ने मोक्षशास्त्र में "प्रमाण्यैरधिगमः" इस सूत्र से प्रमाण ज्ञान व नयज्ञान को अस्तुविज्ञान का मुख्य काण्डा कहा है। वस्तु सामान्य विशेषात्मक है इसलिए जो वस्तु के उभय अंशों को सर्वांग त्रिषय करे वह प्रमाण ज्ञान है। तथा जो सामान्य अथवा विशेष दोनों में से किसी एक अंश को विषय करे, वह नय ज्ञान है। यहाँ सामान्य का अर्थ द्रव्य और विशेष का अर्थ पर्याय है। अतः जो द्रव्य की मुख्यता से प्रदार्थ को त्रिषय करे वह द्रव्याधिक नय और जो पर्याय की मुख्यता से विषय करे वह पर्यायाधिक नय है। इनमें प्रमाण का विषय ज्ञानगम्य तो है पर शब्दगम्य नहीं है। क्योंकि वाणी में वस्तुगत नानाधर्मों को एक साथ कहने की सामर्थ्य नहीं है। परन्तु नय का विषयज्ञान गम्य व शब्दगम्य दोनों हैं। इसलिए नय का विषय समझा जा सकता है और समझाया भी जा सकता है। इसीलिए "ज्ञातुरभिप्रायो नयः" अथवा "बस्तुरभिप्रायो नयः" इस प्रकार नय को शब्द व ज्ञान रूप दोनों प्रकार से कहा है।

अध्यात्मग्रन्थों में द्रव्याधिक व पर्यायाधिक नयों को प्रकारान्तर से निश्चय नय व व्यवहार नय कहा है। इनका नामान्तरण आत्मा की शुद्ध व अशुद्ध परिणति अथवा मोक्ष मार्ग में साध्य-साधन मात्र को ध्यान में रखकर किया गया है। क्योंकि संसार पर्याय में जीव न तो सर्वथाशुद्ध है न सर्वथा अशुद्ध ही। प्रत्युत वह निश्चय नय से शुद्ध व व्यवहार नय से अशुद्ध माना गया है।

यथा शुद्धस्यैकान्तेनात्मनो न कर्म कलङ्कावलेपः सर्वथा निरञ्जनत्वात् सर्वथा शुद्धैकान्तेऽपि तथात्मनो न कदापि शुद्ध स्वभाव प्रसंगः स्यात् तन्मयत्वात् ॥ आलाप यद्वति ॥

अर्थ-यदि आत्मा को एकान्त शुद्ध माना जाय तो सर्वथा निरञ्जन होने से कर्म-बद्धता सिद्ध नहीं होगी और यदि एकान्त अशुद्ध माना जाय तो सर्वथा अशुद्ध होने से

कभी शुद्ध नहीं हो सकेगा । इस तरह संसार पर्याय में जीव को सर्वथा शुद्ध अथवा अशुद्ध मानने से बन्धमोक्ष व्यवस्था लुप्त हो जायगी और इस स्थिति में जीव की संसार व मोक्ष पर्याय के अभाव में जीव का भी अभाव सिद्ध होगा ।

द्रव्याणां तु यथारूपं, तल्लोकेऽपि व्यवस्थितम् :

तथा ज्ञानेन संज्ञातं, नयोऽपि हि तथाविधः ॥ आलाप पद्धति ।

अर्थ-द्रव्यों का जैसा स्वरूप है उनकी लोक में वैसी ही स्थिति है । वे ज्ञान में उसी रूप में जाने भी जाते हैं, तथा ज्ञान के जितने विकल्प हैं उतने ही नय हैं ।

इस तरह जैन दृष्टि से जीवादि छह द्रव्य लोकस्थिति के प्रमुख अंग हैं । वे अपने परिणामन शील अस्तित्व में रहते हुए अपना कार्य निष्पन्न करते रहते हैं । इनमें जीव और पुद्गल को छोड़कर शेष चार द्रव्य (धर्म, अधर्म, आकाश, काल) अपने-अपने गुण पर्यायों में स्वभाव रूप से ही परिणामन करते हैं । लेकिन जीव और पुद्गल ये दो ऐसे द्रव्य हैं जो स्वभाव व विभावरूप दोनों तरह से परिणामन करते हैं । जीव जब तक कर्मबद्ध दशा में रहता है तब तक उसकी गुण पर्यायों विभाव रूप में परिणामन करती हैं । लेकिन कर्म संयोग दूर होने पर स्वभाव रूप में परिणामन करने लगती हैं । जैसे स्फटिक मणि लाल पीतादि वस्त्रों के प्रतिबिम्ब से तद्रूप दिखाई देता है तथा वस्त्र हटते ही अपने शुभ्र स्वभाव में परिणत हो जाता है । जीव के वर्तमान मति ज्ञानादि विभाव गुण और नर नारक आदि अशुद्ध पर्यायों भी कर्मोदय जन्य हैं । कर्म-बन्ध हटते ही जीव के केवल ज्ञानादि स्वभाव गुण और सिद्धत्व रूप स्वभाव पर्याय स्वयम् प्रकट ही जाती हैं । शुद्ध गुण पर्यायों का एक बार आविर्भाव हो जाने पर फिर विकारोत्पादक कर्म वर्गणा के अभाव में कभी तिरोभाव नहीं होता ।

इस तरह शुद्ध गुण पर्याय सहित शुद्ध आत्म द्रव्य ही जीव मात्र को सर्वथा उपादेय है । यही जन्ममरणादि रहित जीव की परमात्म दशा भी है ।

यहाँ यह बात विशेष रूप से ज्ञातव्य है कि जीव में कर्म जनित विभाव परिणामन के कारण पर्यायगत अशुद्धता भले ही लेकिन द्रव्यगत शुद्धता उनके मूलभूत ध्रुव चैतन्य स्वभाव के कारण बनी रहती है और यही बात उसकी अन्य द्रव्यों से भिन्नता प्रकट करती है । यद्यपि जीव के साथ कर्मों का एक क्षेत्रावगाह रूप सम्बन्ध है तथापि जीव का एक भी प्रदेश अपने मूल चैतन्य गुण को छोड़कर जड़त्व भाव को प्राप्त नहीं होता । और न कर्म का एक भी जड़ परमाणु चैतन्य भाव को प्राप्त करता है । जैसे चाँदी मिश्रित स्वर्ण पर्याय-दृष्टि से अशुद्ध है तथापि वह अपने पीतत्वादि गुणों का सर्वथा त्याग नहीं करता और न स्वर्ण के परमाणु अपना अस्तित्व छोड़कर चाँदी रूप में परिणामन करते हैं । स्वर्ण-शोधक इसी गुण व प्रदेश भिन्नता को दृष्टि में रखकर अग्नि आदि द्रव्यों की सहायता से उसे सर्वथा शुद्ध कर देता है जिससे वह स्वर्ण अपने शुद्ध गुण पर्याय सहित अपनी शुद्ध दशा में जा पहुँचता है ।

इसी तरह जीव व कर्म परमाणुओं की स्वभाव भिन्नता और प्रदेश भिन्नता विषयक प्रतीति भेदज्ञानी सम्यग्दृष्टि जीवों को अपने शुद्ध गुण पर्यायों को प्रकट करने में प्रेरक होती है। यदि वे अपने इस शुद्ध स्वभाव की प्रतीतिपूर्वक विभाव परिणति को दूर करने के लिए व्रत-तप-ध्यानादि बाह्य निमित्तों को मिलाकर आत्मशुद्धि का पुरुषार्थ करें तो पूर्ण शुद्ध दशा को प्राप्त कर सकते हैं।

आचार्य प्रवर अमृतचन्द्र ने “स्वाश्रितो निश्चयः” “पराश्रितो व्यवहारः” ऐसा कहकर जीव की स्वाश्रित शुद्ध ज्ञान दर्शनादि रूप आत्मपरिणति को निश्चय नय और व्रत तप ध्यानादि रूप शरीराश्रित प्रवृत्ति को व्यवहार नय कहा है। ये दोनों नय मोक्ष मार्ग के पथिक के दो नेत्र हैं जिनके द्वारा वह संसार व मोक्ष के अन्तरङ्ग व बहिरङ्ग कारणों पर दृष्टिपात करता हुआ आत्म-साधना में तत्पर होता है। निश्चयनय से शरीरादि परद्रव्यों के प्रति एकत्व बुद्धि (ये मेरे हैं, मैं इनका हूँ) ऐसी मिथ्या धारणा तथा इष्टानिष्ट बुद्धि दूर होती है तथा स्वपर की यथार्थ प्रतीति होने से शुद्धात्मानुभव रूप आत्मनिधि हाथ लगती है। इसी तरह व्यवहार नय से मोहाच्छादित आत्मा के विकारी स्वभाव को जानकर उसके कारण आश्रव व बन्ध तत्त्व से बचता है तथा मोहादि विकारों को दूर करने वाले संवर व निर्जरातत्त्व के कारणों को अङ्गीकार कर मोक्षमार्ग में अग्रसर होता है।

प्रवचन सार की टीका में आचार्य कहते हैं—द्रव्यस्य सिद्धौ चरणस्य सिद्धिः। द्रव्यस्य सिद्धिः चरणस्य सिद्धौ अर्थात् द्रव्यों के भेदज्ञान से चारित्र की सिद्धि होती है और चारित्र की सिद्धि से आत्मसिद्धि प्राप्त होती है। द्रव्यानुयोग से तत्त्व ज्ञान प्राप्त कर वीतराग भाव को प्राप्त करने के लिए ज्ञानी जीव संयम की आराधना न करे—ऐसा नहीं हो सकता।

मोक्षमार्ग का अस्ति नास्ति रूप कथन

अध्यात्म ग्रन्थों में निश्चय नय से आत्मा के शुद्ध स्वभाव का अस्ति रूप से कथन है। आगम ग्रन्थों में व्यवहार नय से वही कथन विभाव परिणति के त्याग की अपेक्षा नास्ति रूप से है। वस्तुमात्र में अस्ति नास्ति आदि सभी धर्म सापेक्ष भाव से सिद्ध होते हैं। मोक्षमार्ग में आत्मा की शुद्धता के लिए अशुद्ध भाव (मोहभाव) एवम् उसके कारणों का (सभी चेतन अचेतन रूप बाह्य पहिग्रह का) त्याग जिस प्रकार आवश्यक है उसी प्रकार अशुद्धता एवम् उसके कारणों के निवारणार्थ शुद्ध स्वभाव (निष्कषाय वीतराग भाव) एवम् उसके कारणों का (व्रत संयमादि) ग्रहण भी अपेक्षित है। जीव की संसार व मोक्ष पर्याय परस्पर विपरीत पर्यायों हैं इसलिए एक दूसरे के कारणों का त्याग ही परस्पर का ग्रहण है और इसी दृष्टि से संसार के कारणों का त्याग ही मुक्ति के कारणों का ग्रहण है। आचार्य कहते हैं—

जे णय दिट्ठि विहूणा, ताणाण वत्थु सहाव उवलब्धि ।

वत्थु सहाव विहूणा, सम्भाइहीं कहं हुंति ॥ नयचक्र ॥

जो नयदृष्टि रहित हैं वे वस्तु स्वभाव को नहीं समझ सकते और जो वस्तु स्वभाव से अनिभिन्न हैं वे सम्यग्दृष्टि कैसे ?

निश्चय नय व्यवहार नय में साध्य साधन भाव

निश्चय व्यवहाराभ्यां, मोक्षमार्गो द्विजा मत्तः ।

तत्राद्यः साध्यरूपः स्याद् द्वितीय स्तस्य साधनम् ॥ तत्त्वार्थसार ॥

तात्पर्य यह कि निश्चय एवम् व्यवहार नय की अपेक्षा मोक्षमार्ग दो प्रकार का है । इनमें निश्चय मोक्षमार्ग साध्य है और व्यवहार मोक्षमार्ग उसका साधन है । यही बात नयचक्र में भी कही गई है—

एते वनहारेण बिरसा, णिञ्छस्य सिद्धि कया विणिहिद्धा ।

साहण हेतु जम्हस, तस्सम-सो हवई वनहारो ॥

अर्थ यह है कि व्यवहार के बिना निश्चय की सिद्धि सम्भव नहीं है इसलिए एते निश्चय का साधक है वही व्यवहार मोक्षमार्ग है । आचार्य प्रवर अमृतब्रह्म ने पुरुषार्थ सिद्धि में इसी बात को स्पष्ट किया है—

सम्यक्त्व बोध चारित्र लक्षणो, मोक्षमार्ग इत्येषः ।

मुख्योपचार रूपः प्रापयति परं पदं पुरुषम् ॥

अर्थात् सम्यक् दर्शन ज्ञान चारित्र रूप मोक्षमार्ग मुख्य उपचार रूप से दो तरह का है जीव को साक्षात् अथवा परम्परा रूप से मुक्ति प्रदाता है । यहाँ आचार्य प्रवर ने निश्चय मोक्षमार्ग को मुख्य और व्यवहार को उपचार कहा है । यद्यपि निश्चय रत्नत्रय रूप जीवकी शुद्धात्म परिणति ही मुख्य रूप से मोक्षमार्ग है तथापि साधन के बिना साध्य की सिद्धि नहीं होती । इस दृष्टि से व्यवहार रत्नत्रय को उपचार रूप से मोक्षमार्ग कहा है । जैसे कोई रुग्ण व्यक्ति अपनी नीरोग दशा का विचार करने मात्र से नीरोग नहीं हो सकता । पथ परहेज व औषधि प्रयोग से ही उसे रोग से मुक्ति मिल सकती है । उसी प्रकार व्यवहार रत्नत्रय के साधन से ही जीव को शुद्धात्म स्वभाव की उपलब्धि हो सकती है अन्यथा नहीं ।

व्यवहार मोक्षमार्ग सर्वथा असत्कार्य नहीं हैं

कई लोग व्यवहार मोक्षमार्ग को पराश्रित होने के कारण सर्वथा असत्यार्थ कहकर मोक्षमार्ग में हेय ही मानते हैं । वे शायद बिना बीज बोये फसल काट लेना चाहते हैं । साधन अपना कार्य निष्पन्न करके अप्रयोजनीय हो जावे यह बात दूसरी है, परन्तु कार्य निष्पन्न न होने तक उसका महत्व स्वतः सिद्ध है । अतः व्यवहार मोक्षमार्ग निश्चय मोक्षमार्ग का साधन होने से उसकी प्राप्ति न होने तक अपनी कथञ्चित् उपादेयता ही है । हाँ ! व्यवहार मोक्षमार्ग सर्वथा असत्यार्थ उस स्थिति में माना जा सकता है जब कि वह निश्चय का साधक न हो अथवा उसे ही साध्यमानकर जीव अपने स्वभाव की प्रतीति बिना मिथ्याग्रस्त बना रहे ।

व्यवहार नय मोक्षमार्ग में प्रयोजन भूत इसलिए भी है कि जो अज्ञानी जीव आत्मतत्त्व से सर्वथा अनभिज्ञ हैं अथवा शरीर और आत्मा के भेदज्ञान से रहित हैं उन्हें आत्मा और शरीर के गुणों के आधार पर आत्मबोधपूर्वक भेदज्ञान करके सम्यक्त्व की पात्रता उत्पन्न कर देता है ।

निश्चयाभास व्यवहाराभास

जो व्यवहार निरपेक्ष निश्चय और निश्चय निरपेक्ष व्यवहार को मोक्षमार्ग जानते हैं ऐसे जीव क्रमशः निश्चयाभासी व व्यवहारभासी हैं ।

निरा करोति यो द्रव्यं, व्यवहारश्च सर्वथा ।

तदाभासोऽभिमन्तव्यः प्रतीतेरपलापकः ॥

जो आत्म प्रतीति रहित अज्ञानी जीव आत्मस्वरूप का विचार न कर केवल बाह्य क्रियाकाण्ड को धर्म मानते हैं वे व्यवहाराभासी हैं । इसी तरह जो बाह्य व्रतादि साधन के बिना शिथिलाचारी बने रह कर आत्मपरिणति को शुद्ध मानने का स्वप्न देखते हैं ऐसे मिथ्यात्वी जीव निश्चयाभासी हैं । तात्पर्य यह कि ज्ञानशून्य क्रिया और क्रिया शून्य ज्ञान दोनों मिथ्यात्व के अंग हैं ।

इसी प्रकार कुलाचार को धर्म मानने वाले, सांसारिक प्रयोजनों को (ख्याति, लाभ इन्द्रिय सुख और पूजा प्रतिष्ठा की इच्छा) दृष्टि में रख कर धर्माचरण करने वाले जीव आत्म प्रतीति के बिना मोक्षमार्ग से भ्रष्ट रहते हैं ।

इस प्रकार जीव की कर्मनोकर्म भावकर्म सहित अशुद्ध संसार पर्याय एवम् उक्त त्रिविध कर्म मल वर्जित शुद्ध सिद्ध पर्याय का निश्चय तथा व्यवहार नय एवम् इन नयों के अवान्तर भेदों द्वारा सापेक्ष भाव से निर्णय कर जो जीव मोक्षमार्ग में आरूढ़ होते हैं वे ही भवसन्तति का नाश कर अक्षय मोक्ष सुख का अनन्त काल तक अनुभव करते हैं ।

सामाजिक और आर्थिक सन्दर्भ में महावीर का दर्शन

डॉ. गोकुलचन्द्र जैन

हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

तीर्थंकर महावीर के जीवन और दर्शन का अध्ययन अब तत्र धार्मिक और दार्शनिक सन्दर्भों में होता रहा है। सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से उसके अध्ययन और मूल्यांकन के प्रयत्न नहीं हुए।

पहला प्रश्न यही उठता है कि क्या महावीर के जीवन और दर्शन का अध्ययन सामाजिक और आर्थिक सन्दर्भों में किया जा सकता है? क्योंकि महावीर ने ३० वर्ष तक परिवार में रह कर भी परिवार का संचालन नहीं किया और उसके बाद संन्यस्त होने के कारण स्वतः ही समाज से कट गए। उन्होंने जो उपदेश दिए वे भी निवृत्ति मूलक और मोक्ष प्राप्ति के लिए थे। जबकि सामाजिक और आर्थिक जीवन की आधारशिला प्रवृत्ति है और 'समं यजन्ते' के सिद्धान्त के कारण सामाजिक व्यक्ति समाज से कट कर रह नहीं सकता।

पिछले वर्षों में महावीर के जीवन और दर्शन का मैंने जो अध्ययन किया है, उसके आधार पर मेरी यह दृढ़ मान्यता है कि कोई भी दर्शन यदि समाज के जीवन से सम्पृक्त नहीं होता तो वह जी नहीं सकता। समय के अन्तराल में वह स्वयम् विलीन हो जाता है। पच्चीस सौ वर्षों के बाद भी महावीर की जो जीवन्त परम्परा विद्यमान है, वह इस बात का स्पष्ट प्रतीक है कि महावीर का दर्शन समाज का दर्शन है और उसमें इतना लचीलापन है कि युग के सन्दर्भ में उसकी पुनर्व्याख्या की जा सकती है। प्रस्तुत निबन्ध में हम ऐसे कुछ मुद्दों पर विचार करेंगे।

ईसा पूर्व छठी शताब्दी में जब महावीर जन्मे उस समय तक समाज संरचना के लिए चातुर्वर्ण्य व्यवस्था का कठोरता के साथ पालन होने लगा था। अग्रम्भ में इस व्यवस्था की अवधारणा जो भी रही हो, पर इस व्यवस्था का सबसे बड़ा दोष यह था कि इसने मानव-मानव के बीच में एक गहरी खाई खोद दी थी। वर्णों के आधार पर समाज विभिन्न वर्गों में बट गया था और उसका प्रत्यक्ष प्रभाव व्यक्ति के मौलिक अधिकारों पर पड़ा था। हर वर्ग के मौलिक अधिकार अलग-अलग मान लिए गए थे। शूद्र या अन्त्यज एक ऐसा भी वर्ग था जिसके मौलिक अधिकार कुछ न थे।

महावीर का जन्म वैशाली गणतन्त्र में हुआ था। गणतन्त्र में सदस्य राजाओं के स्वत्व को अहम् मान्यता प्राप्त थी। महावीर को सामाजिक जीवन के सन्दर्भ में भी यह आवश्यक प्रतीत हुआ। उन्हें लगा कि समाज में हर व्यक्ति को समान अधिकार प्राप्त होना चाहिए। तब उन्होंने पहला आघात जन्मना वर्ण-व्यवस्था पर किया। उत्तराध्ययन सूत्र की गथा है—

कम्मुणा बम्मणो होइ कम्मुणा होइ खत्तिओ ।

वइस्सो कम्मुणा होइ सुदो हवइ कम्मुणा ॥ (२५।३१)

वर्णों का नियामक जन्म नहीं कर्म है। व्यक्ति जो कार्य करे वही उसका वर्ण माना जायगा। जन्म से वर्ण नहीं चलेगा। जो ब्राह्मण का कार्य करेगा वह ब्राह्मण, जो क्षत्रिय का काम करेगा वह क्षत्रिय, जो वैश्य का काम करे वह वैश्य और जो शूद्र का काम करे वह शूद्र माना जायेगा। कोई कार्य छोटा-बड़ा नहीं है। कार्य के आधार पर ऊँच-नीच का भेद नहीं किया जा सकता। महावीर ने स्वयम् जीवन में इसका प्रयोग करके देखा, वह अन्त्यजों के सम्पर्क में गए, लुहार और गोपालकों के साथ रहे। दास-प्रथा के खिलाफ सत्याग्रह किया। नारी को पुरुष की तरह समान अधिकार दिए। यज्ञों के विरोध का मूल प्रयोजन समाज के जीवन को आर्थिक विशृंखलता और अन्धविश्वास से मुक्ति दिलाना ही था। महावीर ने जब कहा कि ईश्वर तुम्हीं हो, तुम अपने कर्म के कर्ता और भोक्ता स्वयम् हो तो इसके पीछे समाज को ईश्वर की परतन्त्रता से मुक्त करा कर उसके कृतिव को प्रतिष्ठा देना ही मुख्य उद्देश्य था।

महावीर के इस प्रयत्न ने एक वर्ण-विहीन और शोषण-मुक्त समाज संरचना की नींव डाली। महावीर की परम्परा के साहित्य में इस बात को पुष्ट करने वाली पर्याप्त सामग्री मिलती है।

मूल में जैन धर्म वर्ण-व्यवस्था तथा उसके आधार पर सामाजिक व्यवस्था को स्वीकार नहीं करता। सिद्धान्त ग्रन्थों में वर्ण और जाति शब्द नामकर्म के प्रभेदों में आये हैं। वहाँ वर्ण शब्द का अर्थ रंग है, जिसके कृष्ण, नील आदि पाँच भेद हैं। प्रत्येक जीव के शरीर वा वर्ण (रंग) उसके वर्ण-नामकर्म के अनुसार बनता है। इसी तरह जाति नामकर्म के भी पाँच भेद हैं—एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय। संसार के सभी जीव इन पाँच जातियों में विभक्त हैं। जिसके केवल एक स्पर्शन इन्द्रिय है उसकी एकेन्द्रिय जाति होगी। मनुष्य के स्पर्शन, रसना, प्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पाँचों इन्द्रियाँ होती हैं। इसलिए उसकी जाति पंचेन्द्रिय है। पशु के भी पाँचों इन्द्रियाँ हैं, इसलिए उसकी भी जाति पंचेन्द्रिय है। इस तरह जब जाति की दृष्टि से मनुष्य और पशु में भी भेद नहीं तब वह मनुष्य-मनुष्य का भेदक तत्व कैसे माना जा सकता है। वर्ण (रंग) की अपेक्षा अन्तर हो सकता है, किन्तु वह ऊँच-नीच तथा स्पृश्य-अस्पृश्य की भावना पैदा नहीं करता।

गोत्र कर्म के उच्च गोत्र और नीच गोत्र दो भेद भी आत्मा की आभ्यन्तर शक्ति की अपेक्षा किए गए हैं। ये वर्ण, जाति और गोत्र धर्म धारण करने में किसी भी प्रकार की रुकावट पैदा नहीं करते। प्रत्येक पर्याप्तक भव्य जीव चौदहवें गुणस्थान तक पहुँच सकता है। पाँचवें गुणस्थान से आगे के गुणस्थान मुनि के ही हो सकते हैं। इसका स्पष्ट अर्थ है कि कोई भी मनुष्य चाहे वह लोक में शूद्र कहलाता हो या ब्राह्मण स्वेच्छा से धर्म धारण कर सकता है।

सैद्धान्तिक ग्रन्थों में सामाजिक व्यवस्था सम्बन्धी मन्तव्यों का वर्णन नहीं है। पौराणिक अनुश्रुति भी चतुर्वर्ण को सामाजिक व्यवस्था का आधार नहीं मानती।

अनुश्रुति के अनुसार सभ्यता के आदि युग में, जिसे शास्त्रीय भाषा में कर्मभूमि का प्रारम्भ कहा जाता है, ऋषभदेव ने असि, मसि, कृषि, विद्या, शिल्प और वाणिज्य का उपदेश दिया। उसी आधार पर सामाजिक व्यवस्था बनी। लोगों ने स्वेच्छा से कृषि आदि कार्य स्वीकृत कर लिए। कोई कार्य छोटा-बड़ा नहीं समझा गया। इसी तरह कोई भी कार्य धर्म धारण करने में रुकावट नहीं माना गया।

बाद के साहित्य में यह अनुश्रुति तो सुरक्षित रही, किन्तु उसके साथ में वर्ण-व्यवस्था का सम्बन्ध जोड़ा जाने लगा। नवीं शती में आकर जिनसेन ने अनेक वैदिक मन्तव्यों पर भी जैन छाप लगा दी।

जटासिंहनन्दि (७वीं शती, अनुमानित) ने चतुर्वर्ण की लौकिक और श्रौत-स्मार्त मान्यताओं का विस्तारपूर्वक खण्डन करके लिखा है कि कृतयुग में तो वर्ण भेद था ही नहीं, त्रेतायुग में स्वामी-सेवक भाव आ चला था। इन दोनों युगों की अपेक्षा द्वापरयुग में निकृष्ट भाव होने लगे और मानव समूह नाना वर्णों में विभक्त हो गया। कलियुग में तो स्थिति और भी बदतर हो गयी। शिष्ट लोगों ने क्रिया विशेष का ध्यान रख कर व्यवहार चलाने के लिए दया, अभिरक्षा, कृषि और शिल्प के आधार पर चार वर्ण कहे हैं, अन्यथा वर्ण-चतुष्टय बनता ही नहीं।

रविषेणाचार्य (६७६ ई) ने पूर्वोक्त अनुश्रुति तो सुरक्षित रखी, किन्तु उसके साथ वर्णों का सम्बन्ध जोड़ दिया। उन्होंने लिखा है कि ऋषभदेव ने जिन व्यक्तियों को रक्षा के कार्य में नियुक्त किया वे लोक में क्षत्रिय कहलाए, जिन्हें वाणिज्य, कृषि; गोरक्षा आदि व्यापारों में नियुक्त किया वे वैश्य तथा जो शास्त्रों से दूर भागे और हीन काम करने लगे वे शूद्र कहलाए।

ब्राह्मण वर्ण के विषय में एक लम्बा प्रसंग आया है, जिसका तात्पर्य है कि ऋषभ देव ने यह वर्ण नहीं बनाया, किन्तु उनके पुत्र भरत ने व्रती श्रावकों का जो एक अलग वर्ण बनाया वही बाद में ब्राह्मण कहलाने लगा।

हरिवंशपुराण में जिनसेन सूरि (७८३ ई.) ने रविषेणाचार्य के कथन को ही दूसरे शब्दों में दुहराया है। आदिपुराण में जिनसेन (९वीं शती) ने, उत्तरपुराण में गुणभद्र ने, यशस्तिलक में सोमदेव (१०वीं शती) ने इन बातों की पुष्टि की है।

समाज संरचना के लिए जब ये आधारभूत सिद्धान्त स्वीकार कर लिए गए तो उसके लिए एक आचार संहिता का निर्माण हुआ जिसे सावधम्म, गृहस्थाचार या श्रावकाचार नाम दिए गए।

श्रावकाचार में सामाजिक जीवन की एक सुव्यवस्थित आचार संहिता का प्रतिपादन किया गया है। सामाजिक व्यक्ति के रूप में पूरी जीवन यात्रा और अन्त में चिन्ता-मुक्त होकर मृत्यु का वरण करने तक के लिए नियम और उपनियमों का विस्तार से प्रति-

पादन किया गया है। महावीर ने जिस वर्ग-विहीन और शोषणमुक्त समाज की कल्पना दी, उसकी पहली शर्त है इकाई का निर्माण हो गया तो व्यक्तियों के समूह से बने समाज का निर्माण तो सुनिश्चित है।

व्यक्ति के निर्माण की पहली सीढ़ी है—सम्यग्दृष्टि। दृष्टि की निर्मलता के बिना आगे कदम रखना मुश्किल है। आँख में पीलिया होगा तो सब कुछ पीला दिखेगा। काँच कामल आदि होंगे तो एक चाँद की जगह दो दो चाँद दिखेंगे। सम्यग्दृष्टि होने पर ही ज्ञान सच्चा होगा। सम्यग्ज्ञान होने पर व्यक्ति की कार्य प्रवृत्ति सही हुए बिना नहीं रह सकती। रेलगाड़ी यदि पटरी पर चढ़ी है तो रास्ता कितना ही घूम-घुमाव वाला हो वह सही रास्ते ही जायेगी। जैन आचार्यों ने निःश्रयस की उपलब्धि के लिए इन तीनों की एक साथ उपयोगिता और अनिवार्यता बताई। भट अकलंक ने एक उदाहरण दिया है कि जलते हुए जंगल में से अग्नि व्यक्ति पैर होते हुए भी भाग-भाग कर बच नहीं पाता और आँखों वाला लंगड़ा देख-देख कर भी भाग नहीं सकता। दोनों दावानि में जल जाते हैं। यदि आँखों वाला पैर वाले अग्नि के कन्धों पर बैठ जाए और सही रास्ता बताता चले तो दोनों बचकर बाहर निकल सकते हैं।

यह सम्यक् आचरण ही व्यक्ति को एक अच्छी सामाजिक इकाई बनाता है। इसके लिए सावयधम्म में आठमूल गुण और बारह व्रत बताए हैं। ये प्रमुख नियम हैं।

बारह व्रतों में प्रत्येक की पाँच-पाँच उपधाराएँ हैं, जिन्हें अतिचार कहा गया है। आचार्य कुन्दकुन्द (१ ली शती) ने चारित्रपाहुड़ में बारह व्रतों का वर्णन इस प्रकार किया है—

पचेवगुव्वयाइं गुणव्वयाइं हवंति तह तिण्णि ।
 सिक्खावय चत्तारिय संजमचरणं च सायारं ॥२३॥
 थूले तसकायवहे थूले मोसे अदत्तथूले य ।
 परिहारो परमहिला परिग्गहारंभपरिमाणं ॥२४॥
 दिसिविदिसमाण पढमं अणत्थदंडमस वज्जणं विदियं ।
 भोगोपभोगपरिमा इयमेव गुणव्वया तिण्णि ॥२५॥
 सामाइयं च पढमं विदियं च तहेव पोसहं भणियं ।
 तइयं च अतिहिपुज्जं चउत्थ सल्लेहणा अते ॥२६॥

पाँच अणुव्रत—

- (१) स्थूल त्रस काय बध परिहार ।
- (२) स्थूल मृषा परिहार ।
- (३) स्थूल अदत्त परिहार ।
- (४) परस्त्री परिहार ।
- (५) परिग्रह और आरम्भ का परिमाण ।

तीन गुणव्रत—

- (१) दिशा और विदिशा के गमन का मान ।
- (२) अनर्थदण्ड वर्जन ।
- (३) भोगोपभोगपरिमाण ।

चार शिक्षाव्रत—

- (१) सामायिक ।
- (२) प्रोषध ।
- (३) अतिथिपूजा ।
- (४) सल्लेखना ।

आचार्य उमास्वामी (२री शती) ने तत्त्वार्थसूत्र के सातवें अध्याय में उक्त बारह व्रतों की पूरी व्याख्या की है और उसके साथ उनके उपनियमों का भी विवरण दिया है जिससे भ्राबना और अतिचार कहा गया है । उमास्वामी ने गुणव्रत और शिक्षाव्रत को शील कहा है—

आचार्य समन्तभद्र (२ री शती) ने रत्नकरण्डश्रावकाचार में पाँच अणुव्रत तथा मद्य, मांस और मधु के त्याग को आठ मूल गुण कहा है—

मद्यमांसमधुत्यागैः सहाणुव्रतपंचकम् ।

अष्टौ मूलगुणानाहुर्गृहिणां श्रमणोत्तमाः ॥६६॥

चामुण्डराय (११वीं शती) ने चारित्रसार में उक्त मूल गुणों का निर्देश करनेवाला एक पद्य महापुराण से उद्धृत किया है (१२२)

आशाधर (१३वीं शती) ने मुनि और श्रावक दोनों की आचार संहिता लिखी । सम्प्रसार अमृत में मद्य, मांस, मधु और पाँच उदुम्बर फलों के त्याग को आठ मूल गुण कहा है—

मद्यमांसमधून्युज्जेत् पंच क्षीरफलानि च । (२।२)

अमृतचन्द्र ने पुरुषार्थसिद्धयुपाय (६१-७४) में, सोमदेव (१०वीं शती) ने यश-स्तिलकम् में, देवसेन ने भावसंग्रह (३५६) में पद्मनन्दि ने पंचविशतिका (२३) में, अमित-गति ने सुभाषितरत्नसन्दोह (७६५) में उपर्युक्त मूल गुणों का विवेचन किया है ।

आचार्य रविषेण (वि० सं० ७३४) ने पद्मचरितम् में श्रावक की आचार-संहिता का विवरण दिया है । अन्त में मधु, मद्य, मांस, जुआ, रात्रि भोजन और वेश्यागमन के त्याग को नियम कहा है—

मधुनो मद्यतो मांसात् द्यूततो रात्रिभोजनात् ।

वेश्यासंगमनाच्चास्य विरतिनियमः स्मृतः ॥ (१४।२०२)

आचार्य जिनसेन (वि० सं० ८४०) ने हरिवंशपुराण (१८) में पद्मचरित के समान ही बारह व्रत बताए हैं और मांस, मद्य, मधु, द्यूत उदुम्बरफल, वेश्या तथा परस्त्री के त्याग को नियम कहा है—

मांसमद्यमधुयूतक्षीरवृक्षफलोऽभनम् ।

वेश्याबधूरतित्याग इत्यादि नियमो मतः ॥ (१८।४८)

वसुनन्दि ने स्वतन्त्र रूप से श्रावकाचार की रचना की है । इसमें पाँच उदुम्बर और सात व्यसनो के त्याग का विस्तृत विवेचन है ।

सामाजिक और आर्थिक जीवन के सन्दर्भ में इन मूलगुणों और व्रतों की व्याख्या निम्नप्रकार से की जा सकती है—

१- पहला मूल गुण है अहिंसागुणव्रत ।

जानबूझकर दूसरे के प्राण लेना हिंसा है । यदि आप जीना चाहते हैं तो यह पहली शर्त है कि आपको दूसरे के जीवन का भी वही मूल्य करना होगा ।

यह बात मात्र मानवजगत् के लिए नहीं है । जितने भी प्राणवा हैं, चाहे वे मानव हों, पशु या पक्षी हों या कीट, पतंग, किसी की भी जान लेना अनुचित है, अपराध है । इसके पाँच उपनियम या उपधाराएँ इस प्रकार हैं—

- (क) बन्ध : किसी को अवरुद्ध करके या बन्दी बनाकर नहीं रखना ।
- (ख) बध : किसी को शारीरिक ताड़ना नहीं देना ।
- (ग) छेद : किसी को शरीरावयव का छेद नहीं करना ।
- (घ) अतिभारारोपण : शक्ति और सामर्थ्य से अधिक काम नहीं लेना ।
- (ङ) अस्नाननिरोध : दूसरों के खान-पान में रुकावट नहीं डालना ।

२- दूसरा मूल गुण है सत्यागुणव्रत ।

असत् का प्रमिधान अनृत है । जैसा का तैसा कहना सत्य है । इसके पाँच उपनियम इस प्रकार हैं—

- (क) मिथ्योपदेश
दूसरों को बरगलाना, अफवाह फैलाना, दूसरों को बदनाम करना, इन सब का निषेध ।
- (ख) रहोभ्याख्यान
गुप्त या गोपनीय बातों का प्रकट करना ।
- (ग) कूटलेखक्रिया
दूसरों को ठगने के उद्देश्य से गलत दस्तावेज तैयार करना ।
- (घ) न्यासापहार
अमानती सामान को हड़प जाना ।
- (ङ) साकारमन्त्र भेद
मुखाकृति तथा अन्य संकेतों से किसी की बात को समझ कर ईर्ष्याविषा उसे अन्य को बता देना । समन्त भद्र ने पैशुन्य

की गणना की है। साकारमन्त्र भेद नहीं दिया। इनका निषेध उपनियमों के अन्तर्गत आता है।

३—तीसरा मूल गुण है अचौर्य। बिना दिए किसी की वस्तु न लेना। अदत्त का अप्रहण।

इसके अन्तर्गत किसी की गिरी हुई, भूली हुई चीज को ग्रहण करने का निषेध है। इसके भी पाँच उपनियम हैं --

- (क) स्तेनप्रयोग
स्वयम् चोरी न करना किन्तु दूसरों के द्वारा चोरी करा लेना।
- (ख) स्तेनाहूतादान
चोरी का माल लेना।
- (ग) विरुद्धराज्यातिक्रम
दूसरे राज्य की सीमा का अतिक्रमण करके चीजों को खरीदना-बेचना।
- (घ) हीनाधिकमानोन्मान
नाप-तौल के बाँट खरीदने के लिए अधिक और देने के लिए कम रखना।
- (ङ) प्रतिरूपक व्यवहार
नकली सामान या असली में नकली मिलाकर उसका व्यापार करना। इन सबका निषेध।

४ चौथा मूल गुण है अब्रह्म विरति।

मैथुन-सेक्स की तीव्रता अब्रह्म है। इससे विरति ब्रह्म है। विधिवत् परिणीता के अतिरिक्त अन्य स्त्री या अन्य साधनों से मैथुन करने से विरति अब्रह्म-विरति है। इसकी पाँच उपधाराएँ इस प्रकार हैं—

- (क) परविवाहकरण
दूसरों के विवाह करना।
- (ख) इत्वरिकापरिगृहीतागमन
दूसरे की बदचलन स्त्री के साथ संसर्ग करना।
- (ग) इत्वरिका अपरिगृहीतागमन
वेश्या या अपरिणीता स्त्री का संसर्ग करना।
- (घ) अनंगक्रीड़ा
मैथुन के अंगों के अतिरिक्त अन्य अंगों या साधनों से क्रीड़ा करना।

(ङ) स्मरतीत्राभिनिवेश
कामातिरेक ।

समन्तभद्र ने इत्वरिकागमन को एक मानकर विटत्व की भी गणना की है। इनका निषेध इन उपनियमों के अन्तर्गत आता है।

५—पाँचवा मूल गुण है परिग्रह परिमाण। मूर्छा अर्थात् अशक्ति को परिग्रह कहा गया है। बाह्य वस्तुओं, जड़ और चेतन के प्रति तीव्र आसक्ति ही उनके संग्रह का कारण बनती है। इसलिए मूर्छा को ही परिग्रह कहा। आसक्ति कम होगी तो संग्रह भी कम होगा।

इसकी पाँच उपधाराएँ इस प्रकार हैं—

- (१) क्षेत्र-वास्तुप्रमाणातिक्रम
कृषिभूमि और भवन रखने की सीमा का अतिक्रमण।
- (२) हिरण्य-सुवर्णप्रमाणातिक्रम
सोना आदि बहुमूल्य वस्तुएँ और सोने के सिक्के रखने की सीमा का अतिक्रमण।
- (३) धन-धान्य प्रमाणातिक्रम
विविध प्रकार की धन-सम्पत्ति तथा खाद्य-सामग्री के रखने की सीमा का अतिक्रमण।
- (४) दास-दासी प्रमाणातिक्रम
नौकर-चाकर रखने की सीमा का अतिक्रमण।
- (५) कुप्य प्रमाणातिक्रम
वस्त्र और बर्तनों को रखने की सीमा का अतिक्रमण। इन सब का निषेध।

आचार्य समन्तभद्र के उक्त पाँच अणुव्रतों के साथ मद्य, मांस और मधु के त्याग को आठ मूल गुण कहा है।

जहाँ अणुव्रतों की गणना बारह-व्रतों में की गयी है वहाँ इनके स्थान पर पाँच उदुम्बर फलों का त्याग मूल गुणों के अन्तर्गत मान लिया गया है।

तीन गुणव्रतों में पहला गुणव्रत है— दिग्ब्रत अर्थात् दिशाओं की सीमा निर्धारित करना और निर्धारित सीमा का अतिक्रमण न करना। इसके पाँच उपनियम इस प्रकार हैं—

- (१) ऊर्ध्व व्यतिक्रम : ऊपर की—अन्तरिक्ष की सीमा का अतिक्रमण।
- (२) अधो व्यतिक्रम : नीचे की सीमा का अतिक्रमण।

- (३) तिर्यग्गतिक्रमण : विभिन्न दिशाओं की सीमा का अतिक्रमण ।
 (४) क्षेत्र वृद्धि : खेत आदि की सीमा को बढ़ा लेना ।
 (५) स्मृत्यन्तराधान : निश्चित की गयी सीमाओं को भूल जाना ।

दिग्ब्रत के अन्तर्गत इन सभी प्रकार के अतिक्रमणों का नियमन किया जाता था ।

दूसरा गुणव्रत है — देशव्रत अर्थात् निश्चित प्रदेश के अन्तर्गत भी सीमाओं का निर्धारण करना और निर्धारित सीमाओं का अतिक्रमण न करना । इसके पाँच उपनियम इस प्रकार हैं—

- (१) आनयन : निश्चित सीमा के बाहर दूसरे को भेज कर वहाँ की सामग्री मँगा लेना ।
 (२) प्रेष्यप्रयोग : निश्चित सीमा के बाहर मौजूद व्यक्ति के माफत काम करा लेना ।
 (३) शब्दानुपात : शब्दों के इशारे से सीमा के बाहर काम कराना ।
 (४) रूपानुपात : रूप या आकृति के इशारे से सीमा के बाहर काम कराना ।
 (५) पुद्गलक्षेप : किसी वस्तु को गिरा कर उसके संकेत से सीमा के बाहर काम कराना ।

देशव्रत के अन्तर्गत इन प्रवृत्तियों पर नियन्त्रण रखा जाता था ।

तीसरा गुणव्रत है—अनर्थदण्डव्रत अर्थात् निरर्थक प्रवृत्तियों का नियमन । इसकी पाँच उपधाराएँ निम्न प्रकार हैं—

- (१) कन्दर्प : परिहास और असभ्य भाषण ।
 (२) कौत्कच्य : कुचेष्टाएँ ।
 (३) मौस्वर्यं : धृष्टतापूर्वक वाचालता ।
 (४) असमीक्ष्याधिकारण : अविचारित कार्याधिक्य ।
 (५) उपभोग-परिभोग : भोग और उपभोग की वस्तुओं का अनावश्यक व्यय ।
 अनर्थक्य

अनर्थदण्डव्रत के अन्तर्गत इन सब प्रवृत्तियों पर नियन्त्रण किया जाता था ।

चार शिक्षाव्रत हैं—सामायिक, प्रोषधोपनास, उपभोग-परिभोगव्रत तथा अतिथि-संक्षिप्तव्रत । उपर्युक्त व्रतों की तरह इनकी पाँच-पाँच उपधाराएँ इस प्रकार हैं—

सामायिक की—(१) कायदुष्प्रणिधान, (२) वचनदुष्प्रणिधान, (३) मनो-दुष्प्रणिधान, (४) अनादर, (५) स्मृत्यनुपस्थापन ।

प्रोषधोपवास की—(१) अप्रत्यवेक्षिताप्रमाजितोत्सर्ग, (२) अप्रत्यवेक्षिता-प्रमाजितादान, (३) अप्रत्यवेक्षिताप्रमाजितसंस्तरोपक्रमण, (४) अनादर, (५) स्मृत्यनुप-स्थापन ।

उपभोग-परिभोगवृत्त की—(१) सचित्ताहार, (२) सचित्तसम्बन्धाहार, (३) सचित्तसंमिश्राहार, (४) अभिषवआहार, (५) दुष्पक्वाहार ।

अतिथिसंविभाग की—(१) सचित्त निक्षेप, (२) सचित्तापिधान, (३) पर-व्यपदेश, (४) मात्सर्य, (५) कालातिम ।

आचार्य कुन्दकुन्द ने शिक्षाव्रतों में भोगोपभोगव्रत को न गिना कर मलेखना की गणना की है ।

सल्लेखना—जीवन की अन्त अवस्था में मृत्यु का स्वेच्छया तथा प्रसन्नतापूर्वक वरण है । इसके पाँच उपनियम इस प्रकार हैं—(१) जीविताशंसा, (२) मरणाशंसा, (३) मित्रानुराग, (४) सुखानुबन्ध, (५) निदान ।

ऊपर जिस प्रकार हमने पाँच अणुव्रतों और तीन गुणव्रतों की उपधाराओं का स्पष्टीकरण किया है, उसी प्रकार शिक्षाव्रतों की उपधाराएँ भी विवेचनीय हैं ।

इस विवरण से यह स्पष्ट है कि इन आठ मूल गुणों और बारह व्रतों का उनकी उपधाराओं सहित पालन मात्र व्यक्तिगत जीवन का एक धार्मिक रीति-नियम नहीं था । प्रत्युत सामाजिक और आर्थिक जीवन के आधारभूत संविधान की धाराएँ और उपधाराएँ थीं जिनका पालन प्रत्येक सावय-श्रावक को अनिवार्य था ।

इन सभी नियमों और उपनियमों का संचालन-केन्द्र मूलतः व्यक्ति स्वयम् था । यदि वह चूकता तो समाज उसका नियमन करता और यदि वहाँ भी चूक होती तो राज्य प्रशासन उसे अपने हाथ में लेता ।

तीर्थंकर महावीर के चिन्तन को आधार मान कर जिस उपर्युक्त आचार संहिता का विकास हुआ उसने समाज संरचना और उसके आर्थिक ढाँचे को एक सुदृढ़ भूमि प्रदान की । यही कारण है कि पच्चीस सौ वर्षों के बाद आज भी महावीर का अनुयायी श्रावक सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से उन्नत स्थिति में दृष्टिगोचर होता है ।

महावीर ने अपने युग की बहुप्रचलित क्रियाकाण्ड और पशु-यज्ञों की जो निरर्थकता बताई उसके मूल में भी महावीर की सामाजिक और आर्थिक दृष्टि थी । यज्ञों में मनों की-दूध, जव-तिल आदि खाद्य सामग्री तथा गाय, घोड़े आदि पशु बहुतायत से भस्म किए जाते थे । यज्ञ धार्मिक कृत्य माने जाते थे, इसलिए सर्वश्रेष्ठ सामग्री की तलाश की जाती थी । यदि किसी राजा-महाराजा ने सौ अश्वमेध किए और विभिन्न पुरोहित पण्डों ने पाँच सौ गौमेध, तो उनसे क्या समाज का आर्थिक जीवन छिन्न-भिन्न नहीं होता था ? अवश्य

होता था। महावीर ने कहा अगले जन्म में और अधिक प्राप्त होने का लोभ दिखा कर वर्तमान की साधन-सुविधाओं को स्वाहा करना अनुचित है। पशुवध हिंसा है। परलोक का लोभ मिथ्या है, भ्रम है।

महावीर के चिन्तन को सामाजिक और आर्थिक जीवन के सन्दर्भ में देखने का यह एक लघु प्रयत्न है। यदि महावीर का आज के युग के साथ रिलेवेन्स खोजना है तो अनुसन्धान को इस दिशा में मोड़ देना होगा।

उद्धरण

१. सम्यग्दर्शनज्ञानचरित्राणि मोक्षमार्गः । त. सू. १।१
२. तत्त्वार्थवार्तिक १।१

ज्ञानदर्भ ग्रन्थ

१. उत्तराध्ययन, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, कलकत्ता ।
२. दशैकालिक, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, कलकत्ता ।
३. वरांगचरित, जटासिहनन्दि, माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला ।
४. पद्मपुराण, रविषेण, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन ।
५. हरिवंशपुराण, जिनसेन, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन ।
६. आदिपुराण, जिनसेन, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन ।
७. उत्तरपुराण, गुणभद्र, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन ।
८. कुन्दकुन्द भारती, सम्पादक पं. पन्नालाल ।
९. रत्नकरण्डश्रावकाचार, समन्तभद्र, माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला ।
१०. चारित्रसार, चामुण्डराय, माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला ।
११. सागारधर्मामृत, आशाधर, माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला ।
१२. यशस्तिलकम्, सोमदेव, निर्णयसागर संस्करण ।
१३. पुष्पार्थसिद्धयुपाय, अमृतचन्द्र, वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट ।
१४. भावसंग्रह, देवसेन, माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला ।
१५. पंचविंशतिका, पद्मनन्दि, माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला ।
१६. तत्त्वार्थसूत्र, उमास्वामी, वर्णी ग्रन्थमाला ।
१७. सर्वार्थसिद्धि, पूज्यपाद, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन ।
१८. तत्त्वार्थवार्तिक, अकलंक, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन ।
१९. भगवान् महावीर, डॉ. गोकुलचन्द्र जैन, दिल्ली ।

साधना-खण्ड

जैन-दर्शन का त्रिविध साधनामार्ग

डॉ. सागरमल जैन, हमीविया महाविद्यालय, भोपाल

जैन-दर्शन में मोक्ष की प्राप्ति के लिए त्रिविध साधनामार्ग बताया गया है। तत्त्वार्थ सूत्र में सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चरित्र को मोक्षमार्ग कहा गया है।^१ उत्तराध्ययन सूत्र में सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन, सम्यक् चरित्र और सम्यक् तप ऐसे चतुर्विध मोक्षमार्ग का भी विधान है,^२ किन्तु जैन आचार्यों ने तप का अन्तर्भाव चरित्र में करके इस त्रिविध साधनामार्ग को ही मान्य किया है।

त्रिविध साधनामार्ग ही क्यों ?

सम्भवतः यह प्रश्न हो सकता है कि त्रिविध साधनामार्ग का ही विधान क्यों किया गया है ? वस्तुतः त्रिविध साधनामार्ग के विधान में जैन आचार्यों की एक गहन मनोवैज्ञानिक सूक्ष्म रही है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मानवीय चेतना के तीन पहलू माने गए हैं—१. ज्ञान, २. भाव और ३. संकल्प। चेतना के इन तीनों पक्षों के विकास के लिए त्रिविध साधनामार्ग के विधान का प्रावधान किया गया है। चेतना के भावात्मक पक्ष को सही दिशा में नियोजित करने के लिए सम्यक् दर्शन, ज्ञानात्मक पक्ष के सही दिशा में नियोजन के लिए ज्ञान और संकल्पात्मक पक्ष के सही दिशा में नियोजन के लिए सम्यक् चरित्र का प्रावधान किया गया है।

अन्य दर्शनों में त्रिविध साधनामार्ग

जैन-दर्शन के समान ही बौद्ध-दर्शन में भी त्रिविध साधनामार्ग का विधान है। बौद्ध-दर्शन का अष्टांग मार्ग भी त्रिविध साधनामार्ग में ही अन्तर्भूत है। बौद्ध-दर्शन के इस त्रिविध साधनामार्ग के तीन अंग हैं—१. शील, २. समाधि और ३. प्रज्ञा।^१ वस्तुतः बौद्ध-दर्शन का यह त्रिविध साधनामार्ग जैन-दर्शन के त्रिविध साधनामार्ग का समानार्थक ही है। तुलनात्मक दृष्टि से शील को सम्यक् चरित्र से, समाधि को सम्यक् दर्शन से और प्रज्ञा को सम्यक् ज्ञान से तुलनीय माना जा सकता है। सम्यक् दर्शन समाधि से इसलिए तुलनीय है कि दोनों में चित्त विकल्प नहीं होते हैं।

गीता में भी ज्ञान, कर्म और भक्ति के रूप में त्रिविध साधनामार्ग का उल्लेख है। हिन्दू धर्म के ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग भी त्रिविध साधनामार्ग का ही एक रूप है। हिन्दू परम्परा में परम सत्ता के तीन पक्ष सत्य, सुन्दर और शिव माने गए हैं। इन तीनों पक्षों की उपलब्धि के लिए ही उन्होंने भी त्रिविध साधनामार्ग का विधान किया है। सत्य की उपलब्धि के लिए ज्ञान, सुन्दर की उपलब्धि के लिए भाव या श्रद्धा और शिव की उपलब्धि के लिए सेवा या कर्म माने गए हैं। गीता में प्रसंगान्तर से त्रिविध साधनामार्ग के रूप में प्रणिपात, परिप्रश्न और सेवा का भी उल्लेख है।^२ इनमें प्रणिपात श्रद्धा का परिप्रश्न ज्ञान का और सेवा कर्म का प्रतिनिधित्व करते हैं। उपनिषदों में श्रवण, मनन और निदिध्यासन के रूप में भी त्रिविध साधनामार्ग का प्रस्तुतीकरण हुआ

है। यदि हम गहराई से देखें तो इनमें श्रवण श्रद्धा के, मनन ज्ञान के और निदिध्यासन कर्म के अन्तर्भूत हो सकते हैं।

पाश्चात्य परम्परा में भी तीन नैतिक आदेश उपलब्ध होते हैं—१. स्वयं को जानो (Know Thyself), २. स्वयं को स्वीकार करो (Accept Thyself) और ३. स्वयं ही बन जाओ (Be Thyself)। पाश्चात्य चिन्तन के यह तीन नैतिक आदेश ज्ञान, दर्शन और चरित्र के ही समकक्ष हैं। आत्मज्ञान में ज्ञान का तत्त्व, आत्मस्वीकृति में श्रद्धा का तत्त्व और आत्मनिर्माण में चरित्र का तत्त्व उपस्थित है।

जैन दर्शन	बौद्ध दर्शन	गीता	उपनिषद	पाश्चात्य दर्शन
सम्यक् ज्ञान	प्रज्ञा	ज्ञान, परिप्रश्न	मनन	Know Thyself
सम्यक् दर्शन	समाधि	श्रद्धा, प्रणिपात	श्रवण	Accept Thyself
सम्यक् चरित्र	शील	कर्म, सेवा	निदिध्यासन	Be Thyself

त्रिविध साधनामार्ग और मुक्ति

कुछ भारतीय विचारकों ने इस त्रिविध साधनामार्ग के किसी एक ही पक्ष को मोक्ष की प्राप्ति का साधन मान लिया है। आचार्य शंकर मात्र ज्ञान से और रामानुज मात्र भक्ति से मुक्ति की सम्भावना को स्वीकार करते हैं। लेकिन जैन दार्शनिक ऐसे किसी एकान्तवादिता में नहीं गिरने हैं। उनके अनुसार तो ज्ञान, कर्म और भक्ति की समवेत साधना ही मोक्ष की प्राप्ति का मार्ग है। इनमें से किसी एक के अभाव में मोक्ष की प्राप्ति सम्भव नहीं है। उत्तराध्ययन सूत्र के अनुसार दर्शन के बिना ज्ञान नहीं होता और ज्ञान के अभाव में आचरण सम्यक् नहीं होता है और सम्यक् आचरण के अभाव में मुक्ति भी नहीं होती है। इस प्रकार मुक्ति की प्राप्ति के लिए तीनों ही अंगों का होना आवश्यक है।^६

सम्यक् दर्शन का अर्थ

जैन आगमों में दर्शन शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है और इसके अर्थ के सम्बन्ध में जैन परम्परा में काफी विवाद रहा है। दर्शन शब्द को ज्ञान से अलग करते हुए विचारकों ने दर्शन को अन्तर्बोध या प्रज्ञा और ज्ञान को बौद्धिक ज्ञान कहा है।^७ नैतिक जीवन की दृष्टि से दर्शन शब्द का दृष्टिकोणपरक अर्थ भी लिया गया है।^८ दर्शन शब्द के स्थान पर दृष्टि शब्द का प्रयोग दृष्टिकोणपरक अर्थ का द्योतक है। जैन आगमों में दर्शन शब्द का एक अर्थ तत्त्व श्रद्धा भी माना गया है।^९ परवर्ती जैन साहित्य में दर्शन शब्द को देव गुरु और धर्म के प्रति श्रद्धा या भक्ति के अर्थ में भी प्रयुक्त किया गया है।^{१०} इस प्रकार जैन परम्परा में सम्यक् दर्शन तत्त्व साक्षात्कार, आत्म-साक्षात्कार, अन्तर्बोध, दृष्टिकोण, श्रद्धा और भक्ति आदि अनेक अर्थों को अपने में समेटे हुए है।

सम्यक् दर्शन शब्द के इन विभिन्न अर्थों पर विचार करने के पहले हमें यह देखना होगा कि इनमें से कौनसा अर्थ ऐतिहासिक दृष्टि से प्रथम था और किन किन ऐतिहासिक

परिस्थितियों के कारण यही शब्द अपने दूसरे अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। प्रथमतः हम यह देखते हैं कि बुद्ध और महावीर के युग में प्रत्येक धर्म प्रवर्तक अपने सिद्धान्त को सम्यक् दृष्टि और दूसरे के सिद्धान्त को मिथ्या दृष्टि कहता था, लेकिन यहाँ पर मिथ्या दृष्टि शब्द मिथ्या श्रद्धा के अर्थ में नहीं वरन् गलत दृष्टिकोण के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है। जीवन और जगत के सम्बन्ध में अपने से भिन्न दृष्टियों के दृष्टिकोणों को ही मिथ्या दर्शन कहा जाता था। प्रत्येक धर्म प्रवर्तक आत्मा और जगतके स्वरूप के विषय में अपने दृष्टिकोण को सम्यक् दृष्टि और अपने विरोधी के दृष्टिकोण को मिथ्या-दृष्टि कहता था। सम्यक् दर्शन शब्द अपने दृष्टिकोण पर के अर्थ के बाद तत्त्वार्थ श्रद्धान के अर्थ में भी अभिरूढ़ हुआ। तत्त्वार्थ श्रद्धान के अर्थ में भी सम्यक् दर्शन शब्द अपने मूल अर्थ से अधिक दूर नहीं हुआ था, यद्यपि उसकी दिशा बदल चुकी थी। उसमें श्रद्धा का तत्व प्रतिष्ठित हो गया था। यद्यपि यह श्रद्धा तत्व के स्वरूप की मान्यता के सन्दर्भ में ही थी। वैयक्तिक श्रद्धा का विकास बाद की बात थी। यह श्रद्धा बौद्धिक श्रद्धा थी। लेकिन जैसे भागवत सम्प्रदाय का विकास हुआ उसका प्रभाव श्रमण परम्पराओं पर भी पड़ा। तत्त्वार्थ श्रद्धा अब बुद्ध और जिन पर केन्द्रित होने लगी। वह ज्ञानात्मक से भावात्मक और निर्वैयक्तिक से वैयक्तिक बन गई। जिसने जैन और बौद्ध परम्पराओं में भक्ति के तत्व का वपन किया। यद्यपि यह सब कुछ आगम एवम् पिटक ग्रन्थों के संकलन एवम् उनके लिपिबद्ध होने तक हो चुका था। फिर भी हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि सम्यक् दर्शन का दृष्टिकोणपरक अर्थ भाषाशास्त्रीय विश्लेषण की दृष्टि से उसका प्रथम एवम् मूल अर्थ है। तत्व श्रद्धापरक अर्थ एक परवर्ती अर्थ है। यद्यपि ये परस्पर विपरीत नहीं हैं। आध्यात्मिक साधना के लिए दृष्टिकोण की यथार्थता अर्थात् राग द्वेष से पूर्ण विमुक्त दृष्टि का होना आवश्यक है, किन्तु साधक अवस्था में राग द्वेष से पूर्ण विमुक्ति सम्भव नहीं है। अतः जब तक वीतराग दृष्टि या यथार्थ दृष्टि उपलब्ध नहीं होती तब तक वीतराग के वचनों पर श्रद्धा आवश्यक है।

सम्यक् दर्शन को चाहे यथार्थ दृष्टि कहे या तत्त्वार्थ श्रद्धान उसमें वास्तविकता की दृष्टि से अधिक अन्तर नहीं होता है। अन्तर होता है उनकी उपलब्धि की विधि में। एक वैज्ञानिक स्वतः प्रयोग के आधार पर किसी सत्य का उद्घाटन कर वस्तुतत्त्व के यथार्थ स्वरूप को जानता है किन्तु दूसरा व्यक्ति ऐसे वैज्ञानिक के कथनों पर विश्वास करके भी वस्तुतत्त्व के यथार्थ स्वरूप को जानता है। यद्यपि यहाँ दोनों का ही दृष्टिकोण यथार्थ होगा, फिर भी एक ने उसे स्वानुभूति में पाया है तो दूसरे ने उसे श्रद्धा के माध्यम से। एक ने तत्व साक्षात्कार किया है तो दूसरे ने तत्व श्रद्धा। फिर भी हमें यह मान लेना चाहिए कि तत्व श्रद्धा मात्र उस समय तक के लिए एक अनिवार्य विषय है, जब तक कि तत्व साक्षात्कार नहीं होता। पण्डित सुखलालजी के शब्दों में तत्व श्रद्धा ही सम्यक् दृष्टि हो तो भी वह अर्थ अन्तिम नहीं है, अन्तिम अर्थ तत्व साक्षात्कार या स्वानुभूति ही है और यही सम्यक् दर्शन का वास्तविक अर्थ है।¹¹

सम्यक् ज्ञान का अर्थ

ज्ञान को मुक्ति का साधन स्वीकार किया गया है, लेकिन कौन सा ज्ञान मुक्ति के लिए आवश्यक है, यह विचारणीय है। जैन दर्शन में सम्यक् ज्ञान के दो रूप पाये जाते हैं।

सामान्य दृष्टि से सम्यक् ज्ञान अनेकान्त या वैचारिक अनाग्रह है और इस रूप में वह विचार बुद्धि का माध्यम है। जैन-दर्शन के अनुसार एकान्त मिथ्यात्व है क्योंकि वह सत्य के अनन्त पक्षों का अपलाप करता है। एकान्त या आग्रह की उपस्थिति में व्यक्ति सत्य को सम्यक् प्रकार से नहीं समझ सकता है। जब तक आग्रह बुद्धि है तब तक वीतरागता सम्भव ही नहीं है और जब तक वीतराग दृष्टि नहीं है तब तक यथार्थ ज्ञान भी असम्भव है। जैन-दर्शन के अनुसार सत्य के अनन्त पहलुओं को जानने के लिए अनेकान्त दृष्टि सम्यक् ज्ञान है। एकान्त दृष्टि या वैचारिक आग्रह अपने में निहित छद्म राग के कारण सत्य को रंगीन कर देता है इस प्रकार एकान्त या आग्रह सत्य के साक्षात्कार में बाधक है। परम सत्य को अपने सम्पूर्ण रूप में आग्रह बुद्धि नहीं देख सकती। जब तक आँखों पर राग-द्वेष, आसक्ति या आग्रह का रंगीन चश्मा है अनावृत सत्य का साक्षात्कार सम्भव नहीं है। वैचारिक आग्रह न केवल व्यक्ति के आध्यात्मिक विकास को कुंठित करता है वरन् सामाजिक जीवन में भी विग्रह और वैमनस्य के बीज बो देता है। सम्यक् ज्ञान एक अनाग्रही दृष्टि है। वह उम भ्रान्ति का भी निराकरण करता है कि सत्य मेरे ही पास है, वरन् वह हमें बताता है कि सत्य हमारे पास भी हो सकता है और दूसरों के पास भी। सत्य न मेरा है न पराया, जो भी उसे मेरा और पराया करके देखता है वह उसे ठीक ही प्रकार से समझ ही नहीं सकता। सूत्रकृतांग में कहा गया है कि जो अपने-अपने मत की प्रशंसा और दूसरे मत की निन्दा करने में अपना पांडित्य दिखाते हैं वह एकान्तवादी संसार चक्र में भटकते फिरते हैं।^{१२} अतः जैन साधना की दृष्टि से वीतरागता को उपलब्ध करने के लिए वैचारिक आग्रह का परित्याग और अनाग्रही दृष्टि का निर्माण आवश्यक है और यही सम्यक् ज्ञान भी है।

एक अन्य दृष्टि से सम्यक् ज्ञान आत्म-अनात्म का विवेक है। यह सही है कि आत्म-तत्त्व को ज्ञान का विषय नहीं बनाया जा सकता है, उसे ज्ञाता-ज्ञेय के द्वैत के आधार पर नहीं जाना जा सकता है, क्योंकि वह स्वयम् ज्ञान-स्वरूप है, ज्ञाता है और ज्ञाता ज्ञेय नहीं बन सकता लेकिन अनात्म तत्त्व तो ऐसा है जिसे हम ज्ञाता और ज्ञेय के द्वैत के आधार पर जान सकते हैं। सामान्य व्यक्ति भी अपने साधारण ज्ञान के द्वारा इतना तो जान ही सकता है कि उसके ज्ञान के विषय क्या हैं? और जो उसके ज्ञान के विषय हैं वे उसके स्व-स्वरूप नहीं हैं, वे अनात्म हैं। सम्यक् ज्ञान आत्म ज्ञान है, किन्तु आत्मा को अनात्म के माध्यम से ही पहचाना जा सकता है। अनात्म के स्वरूप को जानकर अनात्म से आत्म का भेद करना यही भेद विज्ञान है और यही जैन-दर्शन में सम्यक् ज्ञान का मूल अर्थ है।

इस प्रकार जैन-दर्शन में सम्यक् ज्ञान आत्म अनात्म का विवेक है। आचार्य अमृतचन्द्र सूरि के अनुसार जो कोई सिद्ध हुए हैं वे इस आत्म अनात्म के विवेक या भेद विज्ञान से ही सिद्ध हुए हैं और जो बन्धन में हैं, वे इसके अभाव के कारण ही हैं।^{१३} आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार में इस भेद विज्ञान का अत्यन्त गहन विवेचन किया है। आचार्य कुन्दकुन्द का यह विवेचन अनेक बार हमें बौद्ध त्रिपटकों की याद दिला देता है जिसमें अनात्म के विवेचन को इतनी ही अधिक गम्भीरता से किया गया है।^{१४}

सम्यक् चारित्र का अर्थ

जैन परम्परा में सम्यक् चारित्र के दो रूप माने गए हैं १—व्यवहार और २. निश्चय चरित्र। आचरण का बाह्य पक्ष या आचरण के विधि विधान व्यवहार चरित्र कहे जाते हैं। जबकि आचरण की अन्तरात्मा निश्चय चरित्र कही जाती है। जहाँ तक नैतिकता के वैयक्तिक दृष्टिकोण का प्रश्न है अथवा व्यक्ति के आध्यात्मिक विकास का प्रश्न है, निश्चयात्मक चारित्र ही उसका मूलभूत आधार है। लेकिन जहाँ तक सामाजिक जीवन का प्रश्न है चारित्र का बाह्य पक्ष ही प्रमुख है।

निश्चय दृष्टि से चारित्र—निश्चय दृष्टि से चारित्र का सच्चा अर्थ समभाव या समत्व की उपलब्धि है।^{१४} मानसिक या चैतिसिक जीवन में समत्व की उपलब्धि यही चारित्र का पारमार्थिक या नैश्चयिक पक्ष है। वस्तुतः चारित्र का यह पक्ष आत्म-स्मरण की स्थिति है। नैश्चयिक चारित्र का प्रादुर्भाव केवल अप्रमत्त अवस्था में ही होता है। अप्रमत्त चेतना की अवस्था में होने वाले सभी कार्य शुद्ध ही माने गए हैं। चेतना में राग, द्वेष, कषाय और वासनाओं की अग्नि पूरी तरह शांत हो जाती तभी सच्चे नैतिक एवम् धार्मिक जीवन का उद्भव होता है और ऐसा ही सदाचार मोक्ष का कारण होता है। अप्रमत्त चेतना जो कि नैश्चयिक चारित्र का आधार है। राग, द्वेष, कषाय, विषय वासना, आलस्य और निद्रा से रहित अवस्था है। साधक जब जीवन की प्रत्येक क्रिया के सम्पादन में आत्म-जाग्रत होता है, उसका आचरण बाह्य आवेगों और वासनाओं से चालित नहीं होता है तभी वह सच्चे अर्थों में नैश्चयिक चारित्र का पालनकर्ता माना जाता है। यही नैश्चयिक चारित्र मुक्ति का सोपान कहा गया है।

व्यवहार चारित्र—व्यवहार चारित्र का सम्बन्ध हमारे मन, वचन और कर्म की शुद्धि तथा उस शुद्धि के कारणभूत नियमों से है। सामान्यतया व्यवहार चारित्र में पंच महाव्रत, तीन गुप्ति, पंच समिति आदि का समावेश है।

सम्यक् दर्शन और सम्यक् ज्ञान का पूर्वापर सम्बन्ध —

ज्ञान और दर्शन की पूर्वापरता को लेकर जैन विचारणा में काफी विवाद रहा है। कुछ आचार्य दर्शन को प्राथमिक मानते हैं तो कुछ ज्ञान को, कुछ ने दोनों का यौगपद्य (समानान्तरता) स्वीकार किया है। आचार मीमांसा की दृष्टि से दर्शन की प्राथमिकता का प्रश्न ही प्रबल रहा है। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है कि दर्शन के बिना ज्ञान नहीं होता।^{१५} इस प्रकार ज्ञान की अपेक्षा दर्शन को प्राथमिकता दी गई है। तत्त्वार्थ सूत्रकार उमास्वामी ने भी अपने ग्रन्थ में दर्शन को ज्ञान और चरित्र के पहले स्थान दिया है।^{१६} अचार्य कुन्दकुन्द दर्शन पाहुड में कहते हैं कि धर्म (साधनामार्ग) दर्शन प्रधान है।^{१७}

लेकिन दूसरी ओर कुछ सन्दर्भ ऐसे भी हैं जिनमें ज्ञान की प्राथमिकता भी देखने को मिलती है। उत्तराध्ययन सूत्र में उसी अध्याय में मोक्षमार्ग की विवेचना में जो क्रम है उसमें ज्ञान का स्थान प्रथम है। वस्तुतः इस विवाद में कोई ऐकान्तिक निर्णय लेना अनुचित ही होगा।

हमारे अपने दृष्टिकोण में इनमें से किसे प्रथम स्थान दिया जाय इसका निर्णय करने के पूर्व हमें दर्शन शब्द का क्या अर्थ है, इसका निश्चय कर लेना चाहिए। दर्शन शब्द के दो अर्थ हैं—१. यथार्थ दृष्टिकोण और २. श्रद्धा। यदि हम दर्शन का यथार्थ दृष्टिकोणपरक अर्थ लेते हैं तो हमें साधनामार्ग की दृष्टि से उसे प्रथम स्थान देना चाहिए। क्योंकि यदि व्यक्ति का दृष्टिकोण ही मिथ्या है, ग्रन्थार्थ है तो, न तो उसका ज्ञान सम्यक् (यथार्थ) होगा और न चारित्र्य ही। यथार्थ दृष्टि के अभाव में यदि ज्ञान और चारित्र्य सम्यक् प्रतीत भी हो तो भी वे सम्यक् नहीं कहे जा सकते, वह तो संयोगिक प्रसंग मात्र है, ऐसा साधक भी दिग्भ्रान्त हो सकता है। जिसकी दृष्टि ही दूषित है, वह क्या सत्य को जानेगा और क्या उसका समाचरण करेगा? दूसरी ओर यदि हम सम्यक् दर्शन का श्रद्धापरक अर्थ लेते हैं तो उसे ज्ञान के पश्चात् ही स्थान देना चाहिए। क्योंकि अविचल श्रद्धा तो ज्ञान के बाद ही उत्पन्न हो सकती है। उत्तराध्ययन सूत्र में भी दर्शन का श्रद्धापरक अर्थ करते समय ज्ञान के बाद ही स्थान दिया गया है ग्रन्थकार कहते हैं कि 'ज्ञान से पदार्थ (तत्त्व) स्वरूप को जानें और दर्शन के द्वारा उस पर श्रद्धा करें'।^{११} व्यक्ति के स्वानुभव (ज्ञान) के पश्चात् ही जो श्रद्धा उत्पन्न होती है उसमें जो स्थायित्व होता है वह स्थायित्व ज्ञानाभाव में प्राप्त हुई श्रद्धा नहीं हो सकता। ज्ञानाभाव में जो श्रद्धा होती है, उसमें संशय होने की सम्भावना हो सकती है ऐसी श्रद्धा वास्तविक श्रद्धा नहीं बल्कि अग्रन्थ श्रद्धा ही हो सकती है। जिन-प्रणीत तत्त्वों में भी यथार्थ श्रद्धा तो उनके स्वानुभव एवम् तार्किक परीक्षण के पश्चात् हो सकती है। यद्यपि साधनामार्ग के आचरण के लिए श्रद्धा अनिवार्य तत्त्व है, लेकिन वह ज्ञान प्रसूत होना चाहिए। उत्तराध्ययन सूत्र में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि "धर्म की समीक्षा प्रज्ञा के द्वारा करें, तर्क से तत्त्व का विश्लेषण करें"।^{१२} इस प्रकार यथार्थ दृष्टिपरक अर्थ में सम्यक् दर्शन को ज्ञान के पूर्व लेना चाहिए और श्रद्धापरक अर्थ में ज्ञान के पश्चात्।

न केवल जैन-दर्शन में अपितु बौद्ध-दर्शन और गीता में भी ज्ञान और श्रद्धा के सम्बन्ध का प्रश्न बहुचर्चित रहा है। चाहे बुद्ध ने आत्मदीप एवम् आत्मशरण के स्वर्णिम सूत्र का उद्घोष किया हो, किन्तु बौद्ध-दर्शन में श्रद्धा का महत्वपूर्ण स्थान सभी युगों में मान्य रहा है। सुत्तनिपात में आलवक यक्ष के प्रत स्वयं बुद्ध कहते हैं मनुष्य का श्रेष्ठ धन श्रद्धा है।^{१३} गीता में भी श्रद्धा या भक्ति एक प्रमुख तथ्य है मात्र इतना ही नहीं, अपितु गीता और बौद्ध-दर्शन दोनों में ही ऐसे सन्दर्भ हैं जिनमें ज्ञान के पूर्व श्रद्धा को स्थान दिया है। ज्ञान की उपलब्धि के साधन के रूप में श्रद्धा को स्वीकार करके बुद्ध गीता की विचारणा के अत्यधिक निकट आ जाते हैं। गीता के समान ही बुद्ध सुत्तनिपात में आलवक यक्ष से कहते हैं निर्वाण की ओर ले जाने वाले ग्रहंतो के धर्म में श्रद्धा रखने वाला अप्रमत्त और विचक्षण पुरुष प्रज्ञा को प्राप्त करता है। 'श्रद्धावांस्तभते ज्ञानं' और 'सद्गहानो लभते पज्ज' का शब्द साम्य दोनों आचार दर्शनों में निकटता देखने वाले विद्वानों के लिए विशेष रूप से द्रष्टव्य है।^{१४} लेकिन यदि हम श्रद्धा को आस्था के अर्थ में ग्रहण करते हैं तो बुद्ध की दृष्टि में प्रज्ञा प्रथम है और श्रद्धा द्वितीय स्थान पर। संयुक्त निकाय में बुद्ध कहते हैं श्रद्धा पुरुष की साथी है और प्रज्ञा उस पर नियन्त्रण करती है।^{१५} इस

प्रकार श्रद्धा पर विवेक का स्थान स्वीकार किया गया है। बुद्ध कहते हैं 'श्रद्धा से ज्ञान बड़ा है।'^{३३} लेकिन इसका अर्थ यह भी नहीं है कि बुद्ध मानवीय प्रज्ञा को श्रद्धा से पूर्णतया निर्मुक्त कर देते हैं। बुद्ध की दृष्टि में ज्ञान विहीन श्रद्धा मनुष्य के स्व विवेक रूपी चक्षु को समाप्त कर उसे अन्धा बना देती है और श्रद्धाविहीन ज्ञान मनुष्य को संशय और तर्क के मरुस्थल में भटका देता है। इस मानवीय प्रकृति का विश्लेषण करते हुए विमुद्धिमग्न में कहा गया है कि बलवान श्रद्धावाला किन्तु मन्द प्रज्ञा वाला व्यक्ति बिना सोचे समझे हर कहीं विश्वास कर लेता है और बलवान प्रज्ञा किन्तु मन्द श्रद्धावाला व्यक्ति कुतार्किक (धूर्त) हो जाता है। वह औषधि से उत्पन्न होने वाले रोग के समान ही असाध्य होता है।^{३४} इस प्रकार बुद्ध श्रद्धा और विवेक के मध्य एक समन्वयवादी दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं। जहाँ तक गीता का प्रश्न है निश्चय ही उसमें ज्ञान की अपेक्षा श्रद्धा की ही प्राथमिकता सिद्ध होती है क्योंकि गीता में श्रद्धेय को इतना समर्थ माना गया है कि वह अपने उपासक के हृदय में ज्ञान की आभा को प्रकाशित कर सकता है।

सम्यक् दर्शन और सम्यक् चरित्र का पूर्वापर सम्बन्ध

चरित्र और ज्ञान दर्शन के सम्बन्ध की पूर्वापरता को लेकर जैन विचारणा में कोई विवाद नहीं है। जैन आगमों में चारित्र से दर्शन की प्राथमिकता बताते हुए कहा गया है कि सम्यक् दर्शन के अभाव में सम्यक् चरित्र नहीं होता। मक्त परिज्ञा में कहा गया है कि दर्शन से अष्ट (पतित) ही वास्तविक रूप में अष्ट है, चरित्र से अष्ट अष्ट नहीं है क्योंकि जो दर्शन से युक्त है वह संसार में अधिक परिभ्रमण नहीं करता जबकि दर्शन से अष्ट व्यक्ति संसार से मुक्त नहीं होता है। कदाचित् चरित्र से रहित सिद्ध भी हो जावे लेकिन दर्शन से रहित कभी भी मुक्त नहीं होता।^{३५} वस्तुतः दृष्टिकोण या श्रद्धा ही एक ऐसा तत्व है जो व्यक्ति के ज्ञान और आचरण को सही दिशा निर्देश कर सकता है। मध्ययुग के जैन आचार्य भद्रबाहु आचार्यगो निर्युक्ति में कहते हैं कि सम्यक् दृष्टि से ही तप, ज्ञान और सदाचरण सफल होते हैं।^{३६} आध्यात्मिक संत आनन्दघन जी दर्शन की महत्ता को सिद्ध करते हुए अनन्त जिन स्तवन में कहते हैं कि—

शुद्ध श्रद्धा बिना सर्व किरिया करी,
छार (राख) पर लीपणु तेह जाणोरे।

सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र की पूर्वापरता

जहाँ तक ज्ञान और चरित्र का सम्बन्ध है जैन विचारकों ने चरित्र को ज्ञान के बाद ही स्थान दिया है। दशवैकालिक सूत्र में कहा गया है कि जो जीव और अजीव के स्वरूप को नहीं जानता ऐसा जीव और अजीव के विषय में अज्ञानी साधक क्या धर्म (संयम) का आचरण करेगा?^{३७} उत्तराध्ययन सूत्र में भी यही बताया गया है कि सम्यक् ज्ञान के अभाव में सदाचरण नहीं होता।^{३८} इस प्रकार जैन दर्शन में आचरण के पूर्व सम्यक् ज्ञान का होना आवश्यक है फिर भी वे यह स्वीकार नहीं करते है कि अकेला ज्ञान ही मुक्ति का साधन हो सकता है। यद्यपि आचार्य अमृतचन्द्र सूरि ज्ञान की चरित्र से पूर्वता को सिद्ध करते हुए एक चरम सीमा का स्पर्श कर लेते हैं वे अपनी समय सार

टीका में लिखते हैं कि ज्ञान ही मोक्ष का हेतु है क्योंकि ज्ञान का अभाव होने से अज्ञानियों में अन्तरंग व्रत, नियम, सदाचरण और तपस्या आदि की उपस्थिति होते हुए भी मोक्ष का अभाव है। क्योंकि अज्ञान ही बन्ध का हेतु है।^{१०} इस प्रकार आचार्य अमृतचन्द्र बहुत कुछ रूप में ज्ञान को प्रमुख मान लेते हैं। उनका यह दृष्टिकोण जैन दर्शन को शंकराचार्य के निकट खड़ा कर देता है। फिर भी यह मानना कि जैन दृष्टि में ज्ञान ही मात्र मुक्ति का साधन है जैन विचारणा के मौलिक मन्तव्य से दूर होना है। साधना मार्ग में ज्ञान और क्रिया के श्रेष्ठत्व को लेकर आज तक विवाद चला आ रहा है किन्तु महावीर ने ज्ञान और आचरण दोनों से समन्वित साधना पथ का उपदेश दिया है। सूत्रकृतांग में महावीर कहते हैं कि मनुष्य चाहें वह ब्राह्मण हो, भिक्षु हो अथवा अनेक शास्त्रों का जानकार हो यदि उसका आचरण अच्छा नहीं है तो वह अपने कृत्य कर्मों के कारण दुःखी ही होगा।^{११} उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है कि अनेक भाषाओं एवम् शास्त्रों का ज्ञान आत्मा को शरणभूत नहीं होता। दूराचरण में अनुरक्त अपने आप को पंडित मानने वाले लोग वस्तुतः मूर्ख ही हैं। वे केवल वचनों से ही अपनी आत्मा को आश्वासन देते हैं।^{१२} आवश्यक निर्युक्ति में ज्ञान और आचरण के पारस्परिक सम्बन्ध का विवेचन अत्यन्त विस्तृत रूप से किया गया है। आचार्य भद्रबाहु कहते हैं कि आचरण विहीन अनेक शास्त्रों के ज्ञाता भी संसार समुद्र से पार नहीं होते। ज्ञान और क्रिया के पारस्परिक सम्बन्ध को लोक प्रसिद्ध अंध पंगु न्याय के आधार पर स्पष्ट करते हुए आचार्य लिखते हैं कि जिस प्रकार एक चक्र से रथ नहीं चलता है या अकेला अंधा अथवा अकेलापंगु इच्छित साध्य को नहीं पहुँचते वैसे ही मात्र ज्ञान अथवा मात्र क्रिया से मुक्ति नहीं होती, अपितु दोनों के सहयोग से ही मुक्ति होती है।^{१३} जैन दर्शन का यह दृष्टिकोण हमें उपनिषद् और बौद्ध परम्परा में भी प्राप्त होता है। बुद्ध कहते हैं जो ज्ञान और आचरण दोनों से समन्वित है वही देवताओं और मनुष्यों में श्रेष्ठ है।^{१४}

उद्धरण

१. तत्वार्थ सूत्र १।१
२. उत्तराध्ययन सूत्र २८।२
३. सुत्तनिपात्त २८।८
४. गीता ४।३४, ४।३६
५. Psychology and Morals P. 180
६. उत्तराध्ययन २८।३०
७. Some problems of Jain Psychology P. 32
८. अभिषान राजेन्द्र खण्ड ५ पृ. २४२५
९. तत्वार्थ १।२, उत्तराध्ययन २८।३५
१०. सामायिक सूत्र - सम्यक्त्व पाठ
११. जैन धर्म का प्राण पृ. २४
१२. सूत्रकृतांग १।१।२।२३
१३. समयसार टीका १३२
१४. देखिये - समय सार ३६२-४०७
नियमसार ७५-८१
तुलनीय संयुक्तनिकाय ३४।१।१।१-१२
१५. प्रवचनसार १।७, पंचास्तिकायसार १०७
१६. उत्तराध्ययन २८।३०
१७. तत्वार्थ सूत्र १।१
१८. दर्शन पाहुड २
१९. उत्तराध्ययन सूत्र २८।३५
२०. उत्तराध्ययन २३।३५
२१. सुत्तनिपात्त १०।२
२२. सुत्तनिपात्त १०।६, तुलनीय गीता ४।३६
२३. संयुक्तनिकाय १।१।५।६
२४. संयुक्तनिकाय ४।४।१।८
२५. विसुद्धिभग्न ४।४७
२६. भक्तपरिज्ञा ६५-६६
२७. आचारांग निर्युक्ति २२१
२८. दशवैकालिक ४।१२
२९. उत्तराध्ययन २८।३०
३०. समयसार टीका १५३ तुलनीय गीता शांकरभाष्य अध्याय ५ की पीठिका
३१. सूत्रकृतांग २।१।७
३२. उत्तराध्ययन ६।६-११

३३. आवश्यक निर्युक्ति ६५-१०२
तुलनीय-नृसिंह पुराण ६१।६।११
३४. मज्झिमनिकाय २।३।५
-

JAINA MONACHISM

Dr. Mohan Lal Mehta

Director, P. V. Research Institute

Varanasi-5

Jainism is mainly an ethical system and monachism is its very foundation. One cannot think of Jainism without Jaina monachism or asceticism. The Great Jaina Mahavira and his preceding Tirthankars were ideal monks and ascetics first and then preachers and preceptors. Lord Mahavira was not the founder of a new doctrine but the reformer of an ascetic religion already in existence. He practised and preached the old Nirgrantha Dharma. The Digha-nikaya (Samannaphala-sutta) and the Uttaradhyayna-Sutra (ch. 23) refer to the four vows (Caturyama) of that Nirgrantha Dharma. Lord Parsva, who preceded Lord Mahavira by 250 years, had preached the Fourfold Law (Caturyama Dharma). Mahavira adopted the same but added one more vow to it and preached the Fivefold Law (Pancavrata Dharma). The four vows preached by Parsva were : not to kill, not to lie, not to steal and not to own property. The Vow of celibacy was, no doubt, implicitly included in the last vow, but in the 250 years that elapsed between the death of Parsva and the preaching of Mahavira, abuses became so abundant that the latter had to add the vow of celibacy explicitly to the existing four vows. Thus, the number of vows preached by Mahavira became five in place of four.

Another important difference between the monks of Parsva and Mahavira was with regard to clothes. It seems that Parsva had allowed his monks to wear an under as well as an upper garment, but Mahavira originally forbade the use of clothes for his monks. When Kesin and his disciples belonging to the tradition of Parsva adopted the Law of five vows preached by Mahavira, they were, however, permitted to continue to wear clothes, that is, they adopted the modified Law without abandoning clothes (Uttaradhyayana-sutra, ch. 23). Thus, Mahavira's composite Church had both types of monks : with clothes (Sacelaka) and without clothes (Acelaka). The former is known as Svetambara and the latter as Digambara. The monks belonging to the Svetambara group wear white garments, whereas those belonging to the Digambara group wear no garments. The literal meaning of the term Svetambara is white-clad and that of Digambara is sky-clad. There is no such distinction among nuns. They all wear white garments.

Monastic Vows :—

Vedic religions divide society into four classes : Brahmanas, Ksatriyas, Vaisyas and Sudras. The basis of this classification is birth. The four classes recognised by Jainism are of a different sort. Their basis is not birth but conduct. They are known as Sramanas (monks), Sramanis (nuns), Sravakas (layment) and Sravikas (laywomen). Jainism gives full freedom to all human beings to observe vows. It provides equal opportunity to all persons to practise self-discipline according to their capacity. The observers of vows are divided into two broad categories : ascetics and lay-votaries. The ascetic is variously known as Sramana, Bhiksu, Nirgrantha, Muni, Sadhu, Yati, Anagara, Mahavratin, Sarvavirata etc. The lay-votary is differently designated as Sravaka, Upasaka, Sagara Anuvratin

etc. Ascetics are homeless mendicants, whereas lay-votaries are householders. The ascetic observes great vows (mahavrata), since he desists completely from violence etc. The lay-votary practises small vows (Anuvratas), in as much as he desists partially from violence etc. Hence, the ascetic's vows are complete or great, whereas the lay votary's vows are partial or small. For instance, the lay-votary is forbidden to commit gross violence, i. e., destruction of higher forms of life (beings with more than one senseorgan), but the ascetic is prohibited to commit subtle violence also, i. e., taking of life in lower forms (beings with one senseorgan) as well. Ofcourse, the lay-votary is also enjoined to avoid subtle violence as far as possible. Monks and nuns constitute the category of ascetics and laymen and laywomen form that of lay-votaries.

The ascetic is required to observe five great vows. He is also enjoined to practise the sixth vow of abstention from taking food and drink after sunset (Dasravaikalika-sutra, ch. 4). The five great vows are in the form of non-violence, non-falsehood, non-stealing, non-copulation and non-acquisition. The ascetic is forbidden to commit any sin, i. e. violence etc., in any form. He is enjoined to refrain from all the sinful activities-subtle and gross, physical, vocal and mental. He neither commits a sin himself, nor causes others to commit it, nor approves of its committal by others.

The vow of non-violence (Prantipata-viramana-vrata) is the basic one. It is the most important of all the vows. The vows of non-falsehood etc. safeguard it. Violence is defined in Jainism as the severance of vitalities out of passion (Tattvartha-sutra, 7. 8). The vitalities or life-elements are ten in number : five senses, speech, mind, respiration, age and energy. Violence is condemned, since it causes pain, and suffering to living beings. Mere severance of vitalities is not sinful. It is passion or negligence which is the real cause of sin. Passionate attitude even without the severance of a vitality constitutes violence. One who acts with passion commits sin whether death, injury, harm or trouble is caused to a living being or not. He who acts with proper care does not commit the sin of violence by mere injury etc. Violence is forbidden, because it horrifies all creatures. Killing is condemned, since every creature wishes to live and not to be slain. The positive aspect of non-violence is compassion (Anukamapa-Karuna-Daya). It is the beneficent mother of all living beings.

For the sake of strengthening the vows, there are some rules to be observed by the ascetic. For the vow of non-violence, he has to observe the following rules : Control of speech, control of thought, regulation of movement, care in taking and placing things and examining food and drink (Tattvartha-sutra, 7. 4). By the observance of these and similar other rules, the vow of non-violence gains sufficient strength.

To speak what is not commendable is falsehood. That which causes pain and suffering to living beings is not commendable, whether it refers to actual facts or not. Hence, the vow of non-falsehood (Mrsavada-viramana-vrata) includes the abstention from untruth spoken out of passion, and from truth, too, if it provokes violence. This vow enjoins the avoidance of harmful, harsh, secret, cruel or inaccurate speech and the use of balanced language that gives satisfaction to all creatures. The following observances strengthen the vow of truthfulness : Giving up anger,

greed, cowardice and jest and speaking blameless words. These and such other observances are helpful in strengthening the second great vow.

To take anything which is not given is stealing. The vow of non-stealing (Adattadana-viramana-vrata) enjoins that nothing that belongs to others is to be appropriated. Not even a blade of grass is to be taken if it belongs to someone else. Thus, the ascetic is forbidden to appropriate even trivial objects without asking permission. The connection of stealing with violence is established as follows : whoever takes the possessions of a man takes away his life, since they represent his external vital force giving him consolation. Hence, violence is a necessary concomitant of stealing. The following observances and the like strengthen the vow of non-stealing : Residence in a solitary place, residence in a deserted habitation, causing no hindrance to others, acceptance of clean food and not quarrelling with co-ascetics.

Copulation comprises the activity of male and female prompted by sexual desire. The vow of non-copulation (Maithuna-Viramana-vrata) forbids the ascetic to embrace man or woman or any other creature out of sexual urge. Two reasons are generally advanced for the condemnation of carnal contact : In a moral sense, the peace of mind is disturbed by the increase of the passions of love and hate. In a physical sense, the sexual act is always accompanied by violence, as it is maintained that there are always present in the sexual organ of a woman numerous minute living beings of which many perish during every act of coition.

For the sake of strengthening the vow of non-copulation, continence, chastity or celibacy, the ascetic has to observe the following rules and the like : Renunciation of (1) listening to stories exciting attachment for women (or men) (2) looking at beautiful bodies of women (or men), (3) recalling former sexual pleasure, (4) delicacies stimulating amorous desire and (5) adornment of body.

Acquisition or possession is defined as attachment of worldly objects. It is related to the acquisition and protection of property, such as land, gold, silver, grain, livestock, furniture, jewels and the like. The vow of non-acquisition or non-possession (parigraha-viramana-vrata) enjoins the ascetic not to accumulate property, not to indulge in attachment. Renunciation of attachment and aversion in the presence of agreeable and disagreeable objects of the senses characterised by touch, taste, smell, colour and sound is helpful in strengthening this vow.

The vow of abstinence from taking food at night (Ratribhojana-viramana-vrata) is also essential for the ascetic. It consists of the abandonment of the fourfold food at night out of compassion for living beings. The fourfold food is as under :

1. Asana—all that is swallowed. Grains, pulses etc. come under this category.
2. Pana—all that is drunk. Water, milk etc. form this variety.
3. Khadima—all that is chewed or nibbled. Fruits, nuts etc. make this category.

4. Svadima—all that is tasted or relished. Pepper, ginger, betel etc. constitute this class.

The practice of night-eating is condemned on the ground that there exist numerous tiny insects completely invisible at night even when a lamp is lit. The food may be infested by such insects. Other organisms may also crawl or flutter into it. Where food is cooked and the platters are washed there is even greater violence at night. Thus, the practice of taking food at night provokes great destruction of creatures. It is also held responsible for many diseases. The ascetic is enjoined to take food once a day. He is forbidden to take food after sunset and before sunrise (Dasa-vaikalika-sutra, chs. 6 and 8).

Essential Duties :—

Besides the above five great vows and the sixth vow of non-night-eating, the ascetic is required to perform every day six essential duties (Sadavasyakas), which are helpful in observing the primary vows. The following are his six essential duties : 1. Samayika, 2. Caturvimsatistava, 3. Vandana, 4. Pratikramana, 5. Kayotsarga, 6. Pratyakhyana.

Samayika means equanimity. The ascetic should have equanimity in life and death, union and separation, friend and enemy, gain and loss, happiness and misery, respect and insult, praise and blame and the like. He should be equanimous in favourable and unfavourable circumstances. By equanimity one becomes free from sinful activities.

Caturvimsatistava means offering prayers to the twenty-four Tirthankaras. This act of devotion purifies one's thought which helps in removing accumulated karmas. By such prayers the soul attains purity of belief.

Vandana means paying respect to the preceptor or the superior. The ascetic is forbidden to pay respect to those who do not observe vows. By paying reverence the soul destroys evil karmas, acquires good karmas, wins the affection of people and brings about general goodwill.

Pratikramana means criticism, condemnation, confession, repentance and expiation of transgressions of the vows. It is performed in day, at night, fortnightly, four-monthly, yearly and for the whole life. By expiation of sins one obviates transgressions of vows and thereby influx of karmas. Thus, he preserves a pure conduct and does not neglect his duties.

Kayotsarga means contemplation or meditation. The ascetic is required to perform meditation without moving the body and without having any attachment to it. The performance may be made in a standing posture or in a sitting position. By this auspicious act one gets rid of transgressions and enjoys happiness.

Pratyakhyana means abandonment, i. e. determination to avoid sinful activities. It can be easily practised by one who is free from passions. Pratikramana is related to the removal of the sinful activities of the past, whereas pratyakhyana is connected with the avoidance of those of the future. By the determination of the avoidance of sinful activities the ascetic shuts the doors of the influx of karmas, as bad desires rising in him are prevented by this type of determination (Uttaradhyayana-sutra, 29. 8.13, Mulacara, 7.15).

JAINA MONACHISM

Dr. Mohan Lal Mehta

Director,

P. V. Research Institute

Varanasi-5.

SUMMARY

Mahavira, the Great Jina and the last Tirthankara of Jainism, was an ideal monk or ascetic. Hence, one can not think of Jainism, without monachism or asceticism. Mahavira was not the founder of a new monastic discipline but the reformer of an ascetic religion already in existence. He practised and preached the old Nirgrantha Dharma. Parsva, who preceded Mahavira, had preached the Fourfold Law, whereas Mahavira added one more vow to it and preached the Fivefold Law. It seems that Parsva had allowed his monks to wear an under as well as an upper garment, but Mahavira originally forbade the use of garments for his monks. Later on Mahavira allowed both types of monks in his Order. They were known as Acelakas (without clothes) and Sacelakas (with clothes) or Digambaras (sky-clad) and Svetambaras (white-clad).

The Jaina ascetic is required to observe five great vows known as non-violence non-falsehood, non-stealing, non-copulation and non-aquisition. He is also enjoined to observe the sixth vow of non-night-eating. Besides, he is required to perform six essential duties known as Sadavasyakas. They are : Samayika, Caturvimsatistava, Vandana, Pratikramana, Kayotsarga and Pratyakhyaana. These essential duties are helpful in observing the primary vows, i. e., the five great vows. They should be practised every day.

हिंसा प्रकृति है अहिंसा संस्कृति है

डॉ. ब्रजबिहारी निगम

भारतीय सामाजिक इतिहास में श्रमण संस्कृति का एक विशिष्ट योगदान रहा है। महावीर एवम् बुद्ध के अवतरित होने के काल तक वैदिक संस्कृति का मूल आधार प्रवृत्ति-मूलक जीवन में श्री और समृद्धि था। शरदः शतम् तक जीने की कामना रखने वाला आर्य सुख से जीना चाहता था। परन्तु श्री और समृद्धि का जीवन शुद्ध भी हो, यह आवश्यक नहीं है। वैदिक मंत्रदृष्टा ऋषि सत्यं वद एवम् धर्मं चर का उपदेश दिया करता था। व्यावहारिक जीवन में सत्य और धर्म अपने भिन्न-भिन्न रूप ग्रहण कर लेते हैं। साधारण जनता जीना चाहती है और सुख की कामना करती है। जीने की इस प्रक्रिया में परिस्थिति के अनुसार सत्य एवम् धर्म के व्यावहारिक अर्थ होते गए हैं। सारे विश्व को ब्रह्ममय समझने एवम् सब भूतों में आत्मा के दर्शन करने वाली वैदिक संस्कृति में वेदानुकूल जीवन-हिंसा को हिंसा नहीं माना गया। यज्ञों में साधारण प्राणी की बलि देने से लगायत नरबलि तक के प्रमाण तत्कालीन इतिहास में उपलब्ध हैं। वेदाकालीन इतिहास में साधारण जनता का उद्देश्य सांसारिक अभ्युदय ही रहा। व्यक्तिगत जीवन में निश्चयस् की सिद्धि के साधक भी थे, पर थे वे अपवाद स्वरूप। इसका आशय यह है कि जब आदर्शों की प्राप्ति तथा जन-साधारण के लिए मार्ग निर्देशन करनेवालों का एक अलग वर्ग खड़ा हो जाता है, तब शुद्ध रूप से धर्माचरण का उत्तरदायित्व इसी वर्ग का हो जाता है, जबकि साधारण जनता दैनंदिन जीवन के लिए जैसा आवश्यक हुआ उसी प्रकार परिवेश से समझौता करके जीना प्रारम्भ कर देती है। जो सुखी, समृद्ध और दीर्घायु जीवन प्राप्त करले वही सबसे सफल व्यक्ति गिना जाता है, और ऐसा ही व्यक्ति दूसरों के लिए आदर्श बन जाता है। धर्म चूँकि सामाजिक उद्भावना है, उसमें भी तत्कालीन परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तन एवम् परिवर्धन समाविष्ट करा दिए जाते हैं। अतः वैदिक प्रज्ञा के शुद्ध एवम् उन्नत होने पर भी सामाजिक जीवन को यह ऊँचाई प्राप्त नहीं हो सकी। विचार एवम् व्यवहार में भेद रहता है एवम् व्यवहार हमेशा विचारानुकूल होने का प्रयास करता रहता है। विचार एवम् व्यवहार का यह भेद ही सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक एवम् सांस्कृतिक प्रगति का कारण है।

श्रमण संस्कृति में इस भेद को कम करने का पूरा-पूरा प्रयास किया गया है। है। तीर्थंकरों एवम् बुद्ध ने सीधे जनता से उनके सामाजिक जीवन की प्रगति एवम् समृद्धि के लिए जनता की भाषा में ही बात की। परमतत्त्व, प्राकृतिक देवता तथा पारलौकिक जीवन की चिन्ता छोड़कर वर्तमान जीवन को शुद्ध बनाने की बात कही। शुद्ध जीवन एवम् समृद्ध जीवन के आदर्शों में भेद है। यह आवश्यक नहीं है कि समृद्ध जीवन शुद्ध हो, जब कि शुद्ध जीवन समृद्ध जीवन भी हो सकता है। शुद्ध जीवन चेतना-विशिष्ट एवम् अंतरजगत की यात्रा है। यह केवल वैचारिक स्थिति नहीं है। यह तो विचार एवम् आचार के तादात्म्य की सतत् अनुभूति है। शुद्ध आत्मा के विचार एवम् व्यवहार में पुष्प एवम् उसकी सुगन्ध-सा सम्बन्ध है। जब आत्मा शुद्ध होती है तो आचार अपने आप प्रगट होता

है। न तो केवल आचार से न केवल विचार से कोई शुद्धात्मा होने का दावा कर सकता है, न ही शुद्ध या अशुद्ध आचार के आधार पर किसी आत्मा को शुद्ध या अशुद्ध कहा जा सकता। श्रमण संस्कृति ने अन्तर व बाह्य के भेद को कम से कम कर देने का जो संकल्प लिया था वह भारतीय इतिहास में एक अभूतपूर्व देन है। इसका एक प्रमाण है वर्णों के भेद को महत्व न देना। जो भी इन्द्रिय-निग्रह कर सके, जिसका चित्त परिवर्तन हो चुका है, जो भी दर्शन, ज्ञान और चारित्र्य की साधना करता है वही जैन बन सकता है। जैन बनने के लिए किसी विशेष वर्ण में जन्म लेने की आवश्यकता नहीं। यह बात भिन्न है कि आज का जैन जन्म से होता है न कि धर्माचरण से, यह तो प्रत्येक धर्म के सम्बन्ध में सत्य है। जब समान धर्मानुयायियों का संगठन बन जाता है तब धर्म गौण हो जाता है और जन्म व संगठन प्रधान हो जाते हैं। जिस वर्ण भेद को समाप्त कर मनुष्य को मनुष्य की तरह समझने का प्रयास महावीर ने प्रारम्भ किया था, उन्हीं का अनुयायी जैन कहलाए जाने वाला समाज आज वेदकालीन वर्णों की ही तरह अपना अलग अस्तित्व बनाये रखने में सन्तोष प्राप्त करता है।

श्रमण संस्कृति का मूल आधार आध्यात्मिक गवेषणा न होकर आचरण की शुद्धता है। इसका आशय यह नहीं कि केवल कर्मशुद्धि ही आदर्श है, क्योंकि कर्म तो आंतरिक जीवन की बाह्य अभिव्यक्ति है। मन बुद्धि के स्वस्थ होने पर कर्म भी शुद्ध हो जाते हैं। लेकिन कर्म के शुद्ध होने से मन भी शुद्ध होगा यह आवश्यक नहीं। गीता की भाषा में कहा जाय तो इन्द्रियों का संयम तो हो जाता है, परन्तु मन से स्मृति नहीं जाती। ऐसा संयम जिसमें तन व मन में भेद हो शुद्ध नहीं होता। विचार एवम् आचार या मन एवम् तन का तादात्म्य हमारे शुद्धाचरण का कारण है। क्या पूर्णतया शुद्धात्मा के लिए कर्म अनिवार्य है? इस प्रश्न का एक ही उत्तर है कि जब कभी कोई कर्म होगा वह शुद्ध ही होगा। शुद्ध आचरण मन का प्रतिबिम्ब है। जैन धर्म में इसी उद्देश्य की प्राप्ति का साधन अहिंसा बतलाया गया। यह कहना तो उचित नहीं है कि अहिंसा परमोधर्म कहने का श्रेय सर्व प्रथम जैन तीर्थकरों को ही है, क्योंकि समाज एवम् संस्कृति का एक इतिहास रहा है, इस इतिहास में जैन संस्कृति ने अहिंसा तत्व पर जिस प्रकार अध्ययन किया एवम् उसे आचरण में उतारने का प्रयास किया वह विश्व संस्कृति को एक देन है। जैन धर्म केवल अहिंसा-विवेचन के आधार पर विश्व की श्रेष्ठ संस्कृतियों में अग्रणी रखा जा सकता है। भारतीय संस्कृति में अहिंसा को श्रेष्ठ धर्म बताने का प्रयास किया है। मनुस्मृति का कथन—“अहिंसयैव भूतानां कार्यं श्रेयोऽनुशासनम् (अध्याय—२-१२६)”, महाभारत का कथन—“अहिंसा सकलो धर्मो हिंसाधर्मस्तथाहितः”, अहिंसा पूर्ण धर्म है, हिंसा अधर्म है”, (शांतिपर्व अध्याय २७२-२०) या “न भूतानाम् हिंसाया ज्यायान् धर्मोऽस्ति कश्चन”, अहिंसा सबसे महान धर्म है। अनुशासन पर्व में तो अहिंसा को परम-धर्म, परम-तप, परम-सत्य, परम-दान, परम-फल, परम सुख बताया है (अध्याय ११५ श्लोक २३)। श्री समन्तभद्र ने अपने बृहत्सव्यंभू स्तोत्र में कहा है कि जगत के सभी प्राणियों के प्रति अहिंसा भावना रखना परम ब्रह्म है (अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमं)। आचारांग सूत्र में इस बात को बड़े ही सरल शब्दों में प्रकट किया है, सब्वेषाणा

सबसे भूया, सबसे जीवा, सबसे सत्ता न हंतव्या” इस आधार पर यह कहने में कोई आपत्ति नहीं है कि भारतीय संस्कृति में “मा हिंस्यात् सर्वभूतानि” का उद्देश्य किसी न किसी प्रकार अभिव्यक्त होता रहा है। मन, वचन एवम् कर्म से सभी प्राणियों के प्रति अहिंसा भाव अपनाने से सम्पूर्ण समाज सुखी हो सकता है। अहिंसक जीवन शुद्ध जीवन है।

साधारणतया देखने पर विदित होता है कि हिंसा और अहिंसा विरोधी शब्द हैं जो हिंसा नहीं है वह अहिंसा है। यहाँ हम तार्किक दृष्टिकोण से इन शब्दों के सम्बन्ध में विचार करना आवश्यक समझते हैं, क्योंकि जब तक शब्दों के गुणार्थ को ठीक न समझा जाएगा, संस्कृति या उसके योगदान की भी स्पष्ट व्याख्या नहीं हो सकेगी। पाश्चात्य तर्कबुद्धि के अनुसार दो पदों में विरोध दो प्रकार का है। एक विपरीत (Contrary) है जैसे श्वेत व श्याम का विरोध। श्वेत व श्याम रंग के ही उपरंग हैं। परन्तु, श्वेत श्याम नहीं है न श्याम श्वेत। यह विरोध एक अजीब प्रकार का है, क्योंकि दोनों रंग हैं, जिनके सिवाय भी अनेक रंग हैं तथा श्वेत व श्याम में अंश का ही भेद है, एक सीमा श्वेत है, तो अंशों की स्केल पर दूसरी सीमा श्याम की है। यह भी कहा जा सकता है कि कभी अंशभेद से श्याम श्वेत हो सकता है और श्वेत श्याम। इस परिप्रेक्ष्य में यह कहना कि हिंसा व अहिंसा में विपरीत विरोध है, क्योंकि हिंसा का नकारात्मक पक्ष अहिंसा है और जो अहिंसा नहीं है वह हिंसा है, उचित नहीं है। ऐसे वर्णनों को तर्कशास्त्र में मूल्यहीन मानते हैं, क्योंकि उनसे कोई अर्थ स्पष्ट नहीं होता। हिंसा व अहिंसा का इस प्रकार विपरीत (विरोध) बताना मूल्यहीन है, क्योंकि दोनों में श्वेत व श्याम की एक जाति रंग के समान कोई एक व्यापक व स्त्वर्थ या गुणार्थ नहीं है।

दूसरे प्रकार का विरोध व्याघाती (Contradictory) है जैसे श्वेत और अश्वेत, श्याम और अश्याम पदों का विरोध। इस व्याघाती विरोध की विशेषता यह है कि इसमें श्वेत या श्याम का पूरा विषय-क्षेत्र इन पदों में समा गया है। अश्वेत में काला, नीला, पीला इत्यादि वे सभी रंग समाविष्ट हो जाते हैं जो श्वेत नहीं हैं। श्वेत एवम् अश्वेत ये दोनों पद मिलकर रंगों का पूरा क्षेत्र समा लेते हैं कोई भी रंग इनसे बाहर नहीं छूटता। क्या हिंसा व अहिंसा में इस प्रकार का व्याघाती विरोध कहना उचित होगा? क्या अहिंसा में हिंसा के व्यक्तिरिक्त सब व्यवहार आजाते हैं। सरसरी निगाह से देखने पर यह भ्रम अवश्य उत्पन्न होता है कि चूँकि अहिंसा में जीवन रक्षा के साथ दया, परोपकार, सेवा इत्यादि भी शामिल हैं, इसलिए इस प्रकार का व्याघाती विरोध सत्य प्रतीत होता है। परन्तु यह असत्य इस कारण है कि हिंसा और अहिंसा पद एक ही विषय क्षेत्र या व्यवहार पक्ष के नहीं हैं। दोनों पद भिन्न-भिन्न विषय क्षेत्र के हैं। इस कारण इस प्रकार का निष्कर्ष उचित नहीं है। अतः यह कहना उचित ही है कि हिंसा और अहिंसा में सामान्य-दृष्टि कुछ भी रही हो, परन्तु इनमें न तो विपरीत विरोध न ही व्याघाती विरोध का सम्बन्ध हो सकता है।

भारतीय दृष्टिकोण से यदि हम अहिंसा को अभावपरक पद माने तो यह तो निश्चय है कि हिंसा व अहिंसा में अन्योन्याभाव नहीं है, जिस प्रकार की हम विपरीत

विरोध के विषय में देख चुके हैं। न ही अहिंसा को हिंसा का अत्यन्तभाव बताकर संस्कृति की व्याख्या की जा सकती है। इसी सन्दर्भ में हमारे वर्तमान विचारकों में अग्रणी आचार्य रजनीश के विचारों का उल्लेख करना लाभदायक होगा। उनके कथन (महावीर भेरी दृष्टि में, मोतीलाल बनारसीदास १९७१) निम्नलिखित है—

“अहिंसा शब्द बिलकुल नकारात्मक है, जो हिंसा नहीं है वह अहिंसा है।”

“हिंसा व अहिंसा विरोधी नहीं हैं, प्रकाश और अंधकार विरोधी नहीं हैं—

पृष्ठ ७४३”

“हिंसा चली जायगी, जो शेष रह जायगा वह अहिंसा है—पृष्ठ ७५३”

“अहिंसा हिंसा का उल्टा नहीं, अहिंसा हिंसा का अभाव है”

“हिंसा के न होने पर जो स्थिति रह जाती है, उसका नाम अहिंसा है, वह बिदाई है हिंसा की—पृष्ठ ५१५”

इन उद्धरणों से ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्यजी अहिंसा को नकारात्मक या अभावात्मक मानते हैं जिसमें हिंसा का अत्यन्त अभाव है। लेकिन अहिंसा शब्द सांस्कृतिक गुणार्थ में इतना विचित्र हो गया है कि अहिंसा की कल्पना बिना हिंसा पर विजय पाये करना असम्भव लगता है। अहिंसा शब्द न केवल नकारात्मक या अभावात्मक है, वरन् सकारात्मक भी है। अहिंसा को केवल अभावात्मक मानना और फिर उसे अनुभव (अहिंसा अनुभव है आचरण नहीं—पृ ७४२) कहने की हिम्मत करने का आशय हमें तुलसीदास की उस चुनौती का सामना करना होगा जिसमें उनका कहा है कि “निर्गुण कहे सगुण बिन सौ गुरु तुलसीदास।” हिंसा व अहिंसा जगत—ब्रह्म, सगुण—निर्गुण, अंधकार प्रकाश, इदम्-अदः के समान वैदिक पारिभाषिक शब्द नहीं हैं जिनकी व्याख्या ब्रह्म-ज्ञान के सहारे की जा सके। रजनीशजी की अहिंसा की व्याख्या निर्गुणी या वेदान्ती व्याख्या है। यह उनके इस कथन से स्पष्ट हो जाता है कि “जो परम की अनुभूतियाँ हैं, वे अभाव की अनुभूतियाँ हैं” (पृष्ठ ५१६)। “अहिंसा का पूर्ण अनुभव परमात्मा का अनुभव है” (पृष्ठ ७५४)। इस प्रकार के कथनों से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि यदि अहिंसा शब्द के स्थान पर ब्रह्म शब्द रख दिया जाय तो आचार्यजी के कथन में किसी प्रकार का अन्तर नहीं आएगा। अतः अहिंसा को हिंसा का अभाव या अत्यन्तभाव नहीं कहा जा सकता।

अभी तक की चर्चा से यह स्पष्ट हो गया है कि हिंसा और अहिंसा : न तो विपरीत न ही व्याघाती विरोध सम्भव है। इसी प्रकार न्याय की शब्दावली में हिंसा और अहिंसा में न तो अन्योन्याभाव है न अत्यन्तभाव और रजनीशजी की व्याख्या में तो अहिंसा का वेदान्तीकरण कर दिया गया है। ऐसी स्थिति में इस पर विचार करना होगा कि अहिंसा से वास्तव में क्या तात्पर्य लेना समीचीन होगा।

वास्तव में अहिंसा सामाजिक मूल्य है और सामाजिक विकास के साथ मूल्यों में परिवर्तन व परिवर्धन होता रहा है। अहिंसा सभी भारतीय धर्मों में तथा विदेशी धर्मों में एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। कोई भी धर्म मानव हिंसा का समर्थन करके जीवित

नहीं रह सकता। श्रमण संस्कृति में और विशेषकर जैन धर्म में एक बहुत बड़ा प्रयोग हुआ है, कि जन साधारण भी शुद्ध जीवन बिताकर महान् आत्मा बन सकता है। मानवता को एक विश्वास दिया है कि देवताओं की अपेक्षा मनुष्य श्रेष्ठ है और जो मनुष्य अपनी अन्तर यात्रा प्रारम्भ कर निर्ग्रन्थी बनजाता है, वह महावीर बनने की पात्रता रखता है। इस पात्रता को प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक नहीं कि देवताओं को प्रसन्न करने के लिए किसी प्रकार की हिंसा की जाये। परलोक के देवता या कोई ईश्वर समाज को सुखी नहीं बना सकता। मनुष्य को मनुष्य ही सुखी बना सकता है और इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए अहिंसक जीवन बिताना प्रत्येक के लिए परम धर्म हो जाता है।

अहिंसा को सामाजिक मूल्य मान लेने पर हिंसा व अहिंसा शब्दों के विरोध का प्रश्न नहीं रह जाता। क्योंकि अहिंसा अपने आप में समर्थ शब्द है तथा अहिंसा में आ हिंस्यात् के साथ-साथ सत्य, अस्नेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, दान, दया, सेवा इत्यादि अनेक मूल्य जुड़े हुए हैं। जीव-सुख यदि हमारे अहिंसक व्यवहार का उद्देश्य है तो उपर्युक्त सभी मूल्य अहिंसा के अन्तर्गत आ जाते हैं। हिंसा व अहिंसा को साथ-साथ रखना और उनमें विरोध देखना या एक दूसरे को अभाव मूलक समझना उचित नहीं है। हिंसा मनुष्य या अन्य प्राणियों की प्रकृति है। जैसे-जैसे सामाजिक सम्बन्ध दृढ़ होते गए संस्कृति का विकास होता गया। यहाँ तक कि मनुष्येतर प्राणियों में भी अपनी ही आत्मा के दर्शन के साथ अहिंसा के क्षेत्र में प्राणियों की रक्षा भी शामिल करली गई है। जैन-दर्शन तो पशुहिंसा में धार्मिक भाव या उपयोगिता के भाव को त्याग कर षटकाय जैसे पृथ्वीकाय, अणुकाय, अग्निकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय की भी हिंसा न करने की बात कहता है। अतः यदि हिंसा प्रकृति है तो अहिंसा संस्कृति है।

तत्त्वार्थ सूत्र १३ अध्याय ७ में हिंसा की परिभाषा है, “प्रमत्त योगात् प्राण व्यापरोपणं हिंसा।” इसकी व्याख्या करते हुए टीकाकारों ने कहा है कि प्रमाद या कषाय ४ (क्रोध, लोभ, माया, मान) योगात् ३ (मन, वचन, कर्म) करण ३ (कृत, कारिता, अनुमोदित) के सम्मिश्रण से १०८ प्रकार की हिंसा होती है, जिन्हें की मोटे रूप से द्रव्य हिंसा और भाव हिंसा में विभक्त किया जा सकता है। यह तो बिल्कुल स्पष्ट है कि पूर्णरूप से अहिंसक होना तो केवल तीर्थंकर के ही बस की बात है, यहाँ तक कि उपसर्ग केवली, अतंकृत केवली, सामान्य केवली तथा सातिशय केवली को भी अहिंसक बने रहने की चेतना बनाये रखनी पड़ती है। केवल पंच कल्याणिक, तीन कल्याणिक या दो कल्याणिक तीर्थंकर ही स्वभाव से अहिंसक बन जाते हैं।

जैन धर्म व्यावहारिक जीवन की उपेक्षा नहीं करता। क्योंकि इसमें श्रमण तथा श्रावक के कर्तव्यों में भेद किया है। श्रावक आरम्भी (चौके चूल्हे में होनेवाली हिंसा) उद्योगी हिंसा (खेतीबाड़ी) तथा विरोधी हिंसा (अत्याचारियों के आक्रमण का विरोध) से बच नहीं सकता। इस कारण श्रमण तथा श्राविक दोनों का सम्पूर्ण जीवन उनकी आध्यात्मिक स्थिति के अनुसार पूर्णतः या आंशिक रूप से इसी सिद्धांत से नियंत्रित होता है। षटकाय की हिंसा से बचना कर्तव्य है क्योंकि हिंसा तो किसी रूप में भी हो आत्मव

द्वार है, किन्तु ऐसा सम्भव न हो तो कम से कम स्थूल प्राणियों या त्रसकाय की हिंसा से अवश्य बचना चाहिए। निशीथ-पूर्ण गाथा में तो निर्देश है कि आचार्य पर आक्रमण करनेवाले, साध्वी के साथ बलात्कार करने वाले तथा सिंह सरोखे घातक प्राणियों की हिंसा करके संघ की रक्षा करना चाहिए।

उपर्युक्त चर्चा का आशय एक ओर तो जैन आचार मीमांसा द्वारा हिंसा के विभिन्न रूपों का उद्घाटन करना था तो दूसरी ओर यह भी प्रकट करना था कि जैन धर्म भारतीय समाज में सांस्कृतिक प्रगति का बड़ा ही उज्ज्वल पृष्ठ है। जैन-दर्शन निरपेक्ष तत्वों में विश्वास नहीं करता। परमसत्ता के सम्बन्ध में अध्ययन-मनन को व्यर्थ समझता है। इनका विश्वास तो सापेक्षिक सत्यों में है। वस्तु अनेक धर्मात्मक होती है और किसी भी मनुष्य के स्वरूप ज्ञान के लिए उसके देश, काल, जाति, जन्म, समाज इत्यादि का ज्ञान होना आवश्यक है। प्रत्येक वस्तु में नित्यत्व भी है तथा अनित्य भी। उत्पादव्यय द्रव्य, प्रत्येक वस्तु के अनिवार्य रूप हैं। जन्म-मरण तथा नित्यजीवन एक ही मनुष्य के धर्म हैं। ऐसा सापेक्षवादी दर्शन निश्चित रूप से अहिंसा धर्म की क्रमिक प्रगति में विश्वास करेगा। समाज के सभी मनुष्य एक दम सम्पूर्ण रूप से अहितक नहीं बन सकते, लेकिन अहिंसा के क्षेत्र में अणुव्रत या महाव्रत से उत्तरोत्तर प्रगति करने की सम्भावना को स्वीकार करना सांस्कृतिक प्रगति में विश्वास प्रकट करना है। मुक्त जीवात्मा या तीर्थंकर या अरिहंत दुख से कराहते हुए मनुष्य के लिए एक आशीर्वाद सिद्ध होता है।

प्रश्न व्याकरण सूत्र में हिंसा अहिंसा पर विस्तृत विचार किया गया है। इसके अनुसार हिंसा आस्रवद्वार है। हिंसा तीस प्रकार की गिनाई है, जब कि अहिंसा को संवर द्वार या मुक्तिद्वार कहा गया है। अहिंसा भी साठ प्रकार की बताई गई है। निर्वाण, निर्वृत्ति, शान्ति, विरति इत्यादि को भी अहिंसा के अन्तर्गत गिनाया गया है। हिंसा, अहिंसा के ये प्रकार इतने महत्वपूर्ण नहीं, जितना कि यह कथन कि हिंसा व अहिंसा प्रथम आस्रव एवम् संवर-द्वार है। सत्य, ब्रह्मचर्य, अस्तेय एवम् अपरिग्रह क्रमशः दूसरे से पाँचवें संवर-द्वार हैं। इसका आशय यह है कि अहिंसा प्रमुख धर्म है, जिससे कि सत्य इत्यादि विकसित होते हैं। अब्रह्मचारी तथा परिग्रही व्यक्ति दूसरों को कष्ट देगा, इसका आशय है हिंसक होगा। अतः किसी व्यक्ति का पूर्ण रूपेण अहिंसक हो जाने का आशय ही यह है कि उसमें अन्य धर्म अपने आप क्रमशः विकसित होते चलते हैं। इसी के साथ दया, परोपकार, दान, सेवा, इत्यादि गुण भी अहिंसा की साधना के साथ प्रारम्भ हो जाते हैं। अनेकांत का सिद्धांत भी अहिंसा दृष्टि का ही एक आनुभविक पक्ष है। अहिंसा को वैश्विक स्तर पर स्वीकृत करने के लिए महावीर का मार्ग ही अपनाना होगा। परन्तु यह भी इतना ही सही है कि सामाजिक प्रगति के साथ ही अहिंसा की साधना का विकास होगा। इस सांस्कृतिक मूल्य की गहराई एवम् व्यापकता ऐतिहासिक आवश्यकता है।

महावीर के तपोयोग का रहस्य

मुनिश्री महेन्द्रकुमारजी 'प्रथम'

शास्त्रों में कहा गया है : "उगं च तवोकम्मं विसेसओ वड्ढमाणस्स" भगवान् महावीर का तपश्चरण अत्यन्त उग्र था। चौबीस तीर्थकरों का तपोयोग एक ओर गिना जाता है तथा भगवान् महावीर का एक ओर। महावीरोंकी कृच्छ्र साधना का जब आकलन किया जाता है, रोमांच हो उठता है। साढ़े बारह वर्ष के छद्मस्थ-पर्यायकाल में उन्होंने ११ वर्ष, ६ मास, २५ दिन का तपोनुष्ठान किया तथा इस अवधि में केवल ११ मास, १६ दिन आहार ग्रहण किया। कम-से-कम उन्होंने छट्ठ (दो दिन) की तपस्या की तथा उत्कृष्टतम छः महीने की। छट्ठ की तपस्या का व्यौरा तो बहुत अल्प है। अधिकांश तपस्या सुदीर्घ अवधि की है। फिर भी उसका शारीरिक वर्चस्व सदैव वृद्धिगत रहा। उनका दिव्य ललाट, भास्वर नेत्र, कान्ति तथा आभा-मण्डल दिन दुगुना आकर्षक रहा। उनके शरीर में कभी शिथिलता, क्लान्ति तथा मलिनता नहीं देखी गयी। तपस्या के कारण उनको कभी थकान भी अनुभूत नहीं हुई। उनकी दैनिक चर्या में भी किसी प्रकार का व्यवधान नहीं हुआ। ध्यान और समत्व-योग की साधना क्रमशः निर्मलतम होती गयी।

बुद्ध ने भी दुष्कर तपोनुष्ठान का मार्ग अपनाया। ६ वर्ष तक वह क्रम चलता रहा। अन्त में उन्होंने आहार का सर्वथा परिहार भी कर दिया। किन्तु, उस अनुष्ठान का उनके शरीर पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। देवों ने रोम-कूपों से उनके शरीर में ओज-प्रक्षेप करना आरम्भ किया। फिर भी निराहारता के कारण वे अत्यन्त दुर्बल हो गए। उनका कनकाम शरीर कृष्ण हो गया। वे दुर्बल हो गए। शरीर में विद्यमान महापुरुषोचित बत्तीस लक्षण छुप गए। एक बार श्वास का अवरोध कर ध्यान करते समय क्लेश से अत्यन्त पीड़ित हो, बेहोश हो चक्रमण-वेदिका पर ही गिर पड़े। कुछ ने समझा, श्रमण गौतम मर गए हैं। बुद्ध को तत्र अनुभव हुआ, यह दुष्कर तपस्या बुद्धत्व-प्राप्ति का मार्ग नहीं है। उन्होंने ग्रामों और नगरों में भिक्षाटन कर भोजन ग्रहण करना आरम्भ कर दिया। उनका शरीर पुनः कनक वर्ण हो गया।

तपोनुष्ठान से महावीर कान्ति-विहीन नहीं हुए, बुद्ध हो गए और उन्होंने तपो-मार्ग को बदल भी लिया। महावीर साधना की परिपूर्णता तक उसमें स्थिर रहे और सब प्रकार के शारीरिक दुष्प्रभावों से अस्पृष्ट भी रहे। प्रश्न होता है, यह सब कैसे हुआ? तपस्या और शारीरिक ऊर्जा का तो परस्पर विरोध है। आहार की प्राप्ति से ही शारीरिक ऊर्जा स्थिर रह पाती है। उसके अभाव में उसका टिक पाना कैसे सम्भव हो सकता है? किन्तु, इन दोनों विरोधी परिस्थितियों (आहार का अग्रहण तथा शारीरिक ऊर्जा का स्थायित्व) में सन्तुलन साधते हुए चलना तथा साधना के उच्चतम शिखर पर पहुँच जाना महावीर भलीभाँति जानते थे। इस पहलू की गहराई में प्रविष्टि के लिए शरीर-विज्ञान तथा योग-विधियों का अनुशीलन अपेक्षित होगा।

भूख क्यों लगती है ?

शरीर में सबसे महत्वपूर्ण यन्त्र यकृत (लीवर) है। जो भी भोजन किया जाता है यकृत के द्वारा उससे दो कार्य निष्पन्न होते हैं—एलबुमिन का निर्माण तथा शक्ति के रूप में संवर्धन एवम् आम्लतत्व (एसिड) का निर्माण तथा क्षरण। एलबुमिन शरीर के समस्त अवयवों को पुष्ट रखता है तथा आम्लतत्व भोजन की पाचन क्रिया करता है। कहना चाहिए, आम्लतत्व के द्वारा पचित भोजन एलबुमिन के रूप में परिणत होता है। दोनों की अनिवार्यता में जब कभी विसंगति हो जाती है, उसी समय अवयव शिथिल हो जाते हैं एवम् किसी रोग की सूचना दे देते हैं। आम्लतत्व ही भूख का निमित्त बनता है। शारीरिक अधिक सक्रियता आम्लतत्व के क्षरण में अधिकता कर देती है। शिशुओं में अधिक चंचलता होती है, अतः उन्हें भूख भी शीघ्र लगती है। शारीरिक श्रम करने वाले मजदूरों की खुराक भी इसीलिए अन्य व्यक्तियों के अनुपात में अधिक देखी जाती है। कारण यही है कि शरीर की अधिक सक्रियता से लीवर में से एसिड का अधिक क्षरण होता है और वह सीधा पाकाशय पर टपकता है। जो भी भोजन किया हुआ होगा, उसका शीघ्र ही पाचन हो जायगा। नाभि के चारों ओर वर्तुलाकार बड़ी आँतें भी उस समय अधिक सक्रिय हो जाती हैं। उनका स्पन्दन भी बढ़ जाता है। एसिड का लीवर से गिरना तथा बड़ी आँतों की स्पन्दन-क्रिया भूख की निमित्त बनती है। बड़ी आँतों का स्पन्दन किए हुए आहार को आगे ठकेलता है और पाकाशय में स्थान रिक्त करता है। तपोनुष्ठान में वही व्यक्ति सफल हो सकता है, जो एसिड को नियंत्रित रख सके तथा आँतों के स्पन्दन को ऐच्छिक समय तक रोक सके।

जो व्यक्ति अधिक बौद्धिक श्रम करते हैं, पाकाशय में उनके एसिड गिरने की गति या तो मन्द हो जाती है या बहुत अधिक। जिनके एसिड की गति मन्द होती है उनकी भूख क्रमशः कम होती चली जाती है वे बहुधा वायु-विकार के शिकार देखे जाते हैं जिनके एसिड अधिक गिरता है, वे अलसर की बीमारी से पीड़ित रहते हैं, जो व्यक्ति मादक द्रव्यों का असीमित सेवन करते हैं, उनके भी एसिड गिरने की गति तीव्र हो जाती है। मादक द्रव्यों में भी एसिड की मात्रा प्रचुरता में होती है। वे व्यक्ति भी अलसर के रोगी देखे जाते हैं। प्रयोजन यह है कि एसिड की गति में तरलमत्ता शारीरिक दृष्टि से हानिकारक होने के साथ-साथ भूख की उपशान्ति में भी बाधक हो जाती है। उस स्थिति में तपोनुष्ठान नहीं हो सकता।

जो व्यक्ति चिन्तन व चिन्ता से सर्वथा दूर रहते हैं और शारीरिक श्रम भी अधिक नहीं करते, उनका शरीर बहुधा उपचित देखा जाता है। उनकी भूख भी अधिक होती है और वे जो कुछ खाते हैं, उचित रूप में परिणत कर लेते हैं। उनके शरीर में एसिड का निर्माण तथा क्षरण पर्याप्त मात्रा में ही होता है।

क्या उदर टिफन हो सकता है ?

इस सम्बन्ध में एक तथ्य यह भी पर्यालोच्य है कि किए हुए भोजन को लीवर के एसिड और आँतों के स्पन्दन से भी बचाया जा सकता है या नहीं ? यदि उसे उक्त दोनों

क्रियाओं से सुरक्षित रखा जाये, तो पेट में पहुँचा हुआ भोजन क्या विकृत हो कर नाना रोगों को उभार नहीं देगा ? बहुधा यह भी देखा जाता है कि तृप्त व्यक्ति भोजन के लिए नहीं अकुलाता । टिफन में यदि भोजन पड़ा हुआ होता है, तो भूख भी व्यक्ति को कम सताती है । मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि भोजन का अभाव भूख को अधिक तथा असमय उभार देता है । क्या किसी भी प्रक्रिया के द्वारा उदर को टिफन बनाया जा सकता है और उसे सम्भावित विकृतियों से बचाया जा सकता है ?

महावीर अनुत्तर अध्यात्म योगी थे । उन्होंने साधना में ऐसे अद्भुत प्रयोग किये थे कि जिनके माध्यम से शारीरिक अभावों को न केवल भरा जा सकता था, अपितु अभावों का निर्माण ही निर्मूल हो जाता था । आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा तथा समाधि का अवलम्बन समय-समय पर वे करते रहते थे । उनकी साधना का एक चरण बुभुक्षा-विजय भी था । शारीरिक स्पन्दन सर्वथा उनके अधीन था । वाचिक गुप्ति की उनकी साधना सतत चालू थी । मानसिक संकल्प-विकल्पों को भी वे अनियंत्रित नहीं होने देते थे । उनकी शारीरिक साधना मानसिक साधना को निखार रही थी, तो मानसिक साधना शारीरिक स्पन्दनों के गत्यविरोध को निर्मूल कर रही थी । उनकी समस्त शारीरिक क्रियाएँ तब तक गतिशील नहीं हो सकती थीं, जब तक कि वे उन्हें उस और प्रवृत्त नहीं करते थे । रक्त का संचालन, श्वास-प्रश्वास तथा उसका सूक्ष्म व स्थूल समस्त परिचालन उनका ऐच्छिक होता था । महावीर ने तपस्या के क्षेत्र में यह एक अनूठा प्रयोग किया था । वे पक्ष, मास, दो मास, या चारमास में जब भी परिमित भोजन ग्रहण करते पाकाशय में उसको सुरक्षित रख सकते थे । लीवर से गिरने वाले एसिड को और आंतों के स्पन्दन को रोक सकते थे । गृहीत भोजन उनके उदर में सुरक्षित पड़ा रहता था ।

भोजन पर बाष्पीय प्रयोग

एक अन्य क्रिया के द्वारा महावीर उस भोजन पर बाष्पीय प्रयोग भी करते थे । जिसमें भोजन विकृत नहीं हो सकता था । उनके जीवन-प्रसंगों में उल्लेख मिलते हैं कि वे कभी शीत में चक्रमण करते तथा कभी आतापना भी लेते । शीत में चक्रमण तथा आतापना लेना उनके द्वारा गृहीत आहार पर होने वाले बाष्पीय प्रयोग की संसूचा है । इस प्रयोग से वे प्रतिक्षण आहृत की तरह रहते थे । इसीलिए उनकी क्रान्ति क्लान्ति में परिणत नहीं हो पाई । उनका आभा-मण्डल ज्यों-का-त्यों भास्वर रहा । उनकी साधना चलती रही और वह कर्म-क्षय की निमित्त बनती रही । यही कारण है कि उनका ध्यान सप्ताह, पक्ष, मास, द्वि मास, चार मास, छह मास तक भी अखण्ड चलता रहा । उन्हें कहीं भूख-प्यास की वेदना अनुभव हुई हो, ऐसा प्रतीत नहीं होता । क्योंकि वेदना की स्थिति में ध्यान की निर्बाधता सध नहीं सकती । वह बार-बार मन को विक्षिप्त करती रहती है । महावीर ने ध्यान की अभिवृद्धि के लिए शारीरिक अभावों पर विजय पाने के इस प्रकार के सुगम मार्ग निकाले थे ।

“प्लास्का” का निर्माण

अभी-अभी पूना की राष्ट्रीय अनुसन्धानशाला में भारतीय वैज्ञानिक ने भोजन

पर अनुसन्धान कर एक निष्कर्ष निकाला है कि वाष्प के विशेष प्रयोग से भोजन को कीटाणु-रहित किए जाने पर वह तीन दिन तक सुरक्षित रह सकता है। बचा हुआ भोजन तथा यात्रा में साथ लिया जाने वाला भोजन उक्त विधि से अविद्युत स्थिति में रह सकता है। उसके लिए उन्होंने विशेष प्रकार के 'फ्लास्का' का निर्माण किया है, जिसमें किसी प्रकार के शीत-ताप के प्रयोग की अपेक्षा नहीं होती। लगता है, महावीर ने तपोनुष्ठान के क्षेत्र में अपने उदर पर जो प्रयोग किया था, वही विज्ञान के क्षेत्र में 'फ्लासका' की विधि से नये परिधान में आ रहा है।

व्यवहारोपयोगी चिंतन-खण्ड

SOCIAL SIGNIFICANCE OF JAINA ETHICS

Dr. R. C. Dwivedi
Professor & Head
Department of Sanskrit
University of Udaipur
UDAIPUR

Essence of Jaina ethics provides the best *raison d'être* for Mahavira's relevance in our times. Melvin Radar in his book "*Ethics and the Human Community*" holds in opposition to the relativist, subjective, intuitional and a priori theories that ethics should be based upon human nature and its potentialities.¹ He finds expression of man's deliberate attempt to make himself at home in the universe through religious sense of community which enables him "to escape from his loneliness and self alienation" in the ancient Egyptian religion, in the Confucian doctrine of humanheartedness and universal kindness; the Taoist sense of mystic unity with nature; the Buddhist emancipation from selfhood the Hindu vision of all-encompassing, all-penetrating spirit; the Moslem idea of One God and One Humanity; the Hebraic devotion to a God of love and justice; and the Christian fellowship of all men in God.²

Moral aphorisms of all religions, including Jainism, confirm their community-mindedness. Religion that ignores society has no chance of survival.³ Ethical ideals of universal love and brotherhood. *Ahimsa*, Charity, simplicity, chastity, truthfulness and non-attachment to worldly interests and gains are extolled in all religions. There may be some difference of emphasis on these ideals in one or the other religion but none preaches hatred, malice, pride, prejudice, passion exploitation of fellow human beings or disrespect of life in all its varied and various forms. And if religion is not to be mistaken for dogma or ritual which sometimes sanctioned intolerance and disrespect for life, it can be affirmed without fear of contradiction that religion is no antithesis to humanism, social development, universal understanding and democratic spirit. True *Dharma* founded on the cardinal⁴ ethical virtues is *Sanatana*, eternal and universal.

Belief in God, of any description or permanence of the soul or elaborate metaphysics and ontology can wait for their turn or may even be discarded but concern for the alleviation of suffering of fellow human being and his ultimate and absolute freedom or beatitude is to engage immediate and ever-lasting attention of all religions and ethical quests. In order to realise the *Summum Bonum*, a seemingly negative, purely individualistic and ascetic ethical discipline, in contrast to a more loving, burning and joyous ethical discipline, may be prescribed. But there is no radical difference between what is said to be the negative and the positive ethical attitudes. If nothing else then history of the followers negates the prejudice of superiority of Western over the Eastern ethical ideal. It is with this basic understanding of religion or ethics that I approach to examine the social and contemporary significance of Jain ethical teachings.

As its very name signifies Jainism stands for extreme severity of ethical discipline both for the ascetic and the house-holder. This emphasis distinguishes it from Buddhism which stood for the golden mean in ethical teachings and from Hinduism which in its original spirit is less ascetic and severe, is prescribing the ethical extremities. Healthy interest in worldly gains, conception of *svarga* as the *Summun Bonum*, elaborate rites and rituals as the means of attaining it mark the period of the Samhitas and the Brahmanas. It is not, therefore, without significance that *Indra* the War-God, is the hero of this period and *Varuna*, the God, of moral virtues, less prominent. It was the smouldering dissent of contemporary free thinkers who were denounced by vedic seers as haters of the Veda (*brahmadvis*) 'maligners of Gods (*devanid*); men of no principles (*apavrata*) as also reaction against artificial over-elaborate and complex ritualism, arising due to self-critical consciousness of vedic believers which led to the Upanisadic, ethical attitude preferring *sreyas* (Spiritual freedom) to *preyas* (material prosperity) and *paravidya* (spiritual knowledge) to *apara vidya* (mundana knowledge) and extolling renunciation (*tyaga*), *tapas* (penance) and detachment (*vairagya*) over worldly or other worldly pursuits. It is still a question of preference and superiority. Asceticism is not recognised as an exclusive and absolute virtue. After all, entire earlier tradition could not be cast off like a robe, it could at best be critically examined and a new choice or preference was to be underlined in the light of self-critical consciousness, and perhaps more so, because continuing free thinking began gradually to organise itself into well-defined movements of Jainism and Buddhism. Upanisads, therefore, speak in the language of preference. That the Brahmanical tradition stands not only for, a preference but actually for a synthesis between vedic ideal of *svarga* and Upanisadic ideal of liberation is seen in the definition of *Dharma* which is described as realisation of both the *abhyudaya* and *nihisreyas*. Connection of *Brahman* as absolute reality (*sat*), absolute consciousness (*cit*) and absolute bliss (*ananda*) in the Vedanta, of which the source and authority are the Upanisads, is not a break-off from the conception of *svarga* which is an abode of positive bliss but its perfection and absolute excellence. In fact the arguments generally deduced to prove the nature of reality are based on comparison leading finally to absoluteness of existence, knowledge and bliss in the Ultimate. Later Hindu tradition, as manifested through the Mimamsakas notion of *Moksa* (liberation), integral harmony of two principles (*samarasya*, *visistadvita* etc) propounded by Kashmira Saivism and some schools of Vaisnavism, militancy of some sects like *Vira*, *Saiva Sakta* and *Lingayatas*, Tantric eroticism and pervading sensuality of classical sanskrit literature also underlined that Hinduism is not pre-eminently ascetic in its spirit or development. It did imbibe the asceticism and renunciation in its course of development right from the ege of the Upanisads but did never give up its faith in the life pleasures here and beyond. It is, therefore, no mistake to declare Buddhism and Jainism as revolt against Vedism. Denial of God and the authority of the Vedas, revolt against ritualism and class distinctions are points of agreement between dissenting religions of Buddhism and Jainism. They prescribe ethical discipline and subscribe to the belief in the trans migration and the law of Karman. Sin in their view is no offence against God or against the injunctions of the Vedas which assigned different duties according to the distinction of caste, age and sex. Man is solely responsible for his actions. He is his own refuge. The whole course of moral discipline is his sole responsibility. There is no divine intervantion to obstruct his progress

in ethical discipline. Nor is there any succour to himself if he falters. Interference is from within either psychologically or physically or even spiritually. Man is endowed with freedom and responsibility to embark upon the course of his ultimate perfection. This is the original attitude of Jainism and Buddhism which may have been compromised or modified in the course of long history perpetual encounter with Hinduism, but was never totally rejected or replaced in theory.

Between Jainism and Buddhism there have been claims of superiority of ethical teachings of one over the other. Thus for example, Nahar and Ghosh speaking of Buddhism say that its philosophy of momentariness, has undermined its ethics because "such a philosophical speculation, by the perfect frankness with which it eulogises the life of momentary experience and undermined importance of calculating wisdom so essential in life, takes away from man what is of worth and dignity to him and thus bears its own condemnation". Contrasting Jainism with Buddhism they conclude that "the *Summum bonum* of life is here in Jainism not the gratuitous enjoyment of the present in utter disregard of the future as Buddhists hold."⁴ This is complete misunderstanding of the Buddhist philosophy as it renders the latter to hedonism. Buddha propounded a comprehensive ethical code which was summed up in Eightfold Path: right belief, right aspiration, right speech, right conduct, right livelihood right effort, right thought and right concentration. Refutation of permanent self has an ethical motive. Existence of suffering is the fundamental fact of human existence. Its recognition is the First Noble Truth, the Second Noble Truth is that it is caused by desire or craving which is based on intellectual and moral error of self-centredness. The very notion of the self, as abiding permanent and eternal is an illusion. There is no self, one's life is just an unbroken stream of successive states that are casually connected and behind this stream there is no permanent ego, no self-contained entity independent of change and independent of one's fellows.⁵ To consider his self supreme, to be selfish about it is the root moral error of life. The Third Noble Truth teaches emancipation from the sense of self; *Nirvana* is the result of this emancipation from self. So long as individuality, ego or selfishness persists there is no freedom, no *Nirvana*. The Fourth Noble Truth tells the way, the eightfold path to remove the suffering through extinction of self-centredness. Thus the theory of *anatta* (no self) in Buddhism has a very profound meaning and is not to be confused with the "claim of the present even of the momentary present imperious and supreme beyond all others" as Nahar and Ghosh do.⁶ However, what distinguishes Jain ethics from that of Buddhism is its strict asceticism and non-absolutistic relativism reconciling opposites between Hinduism and Buddhism. Buddha practised ascetic life for six years and then declared that the truth cannot be attained by one who has lost his strength."⁷ There are two extremes which he who has gone forth ought not to follow habitual devotion, on the one hand, to the passions, to the pleasure of sensual things, and habitual devotion on the other hand, to self-mortification which is painful, ignoble and unprofitable. There is a middle path discovered by the Tathagata."⁷

Jainism prescribes strict and, in fact, extremely severe ethical discipline for the house-holders and the ascetic, the *śrāvaka* and the *sramana*. It lays equal emphasis on faith, knowledge and conduct which together constitute way to individual freedom.⁸ The Jain Philosophy divides the world primarily into the duality of self (*jīva*) and not self (*ajīva*) with

their inherent pluralism. The self is infinite, alike eternal and of various forms implying different stages of development. Its intrinsic nature of perfection, infinite intelligence, infinite peace, infinite faith and infinite power is obscured by its union with matter. Its ethical aim is to cast off this malignant influence of the not-self and realise its real nature which is perfect enlightenment. Perfect knowledge is never inactive. Knowledge does not exist without right action and right conduct. Enlightened self leads active life for the good of others, as he can do no more of good to himself. The seven *tattvas* postulated by Jainism, namely, *Jiva*, *Ajiva*, *Asrava*, *Bandha*, *Samvara*, *Nirjara* and *Moksa* underline all-absorbing concentration of Jainism on the ethical perfection of the self as the real objective of metaphysical or philosophical enquiry. This is in hold contrasts to other systems of Indian philosophy where ethics does not occupy such an important place in the scheme of philosophical categories. It is, therefore, no surprise that Jainism has propounded in great details the path of ethical discipline both for the clergy and the laity.

Jainism lays down five vows for the ascetic and the same are prescribed for the house-holder with some modification. They are *ahimsa* (non-injury) *Satya* (truth), *asteya*, (chastity) and *aparigraha* (renunciation). While an ascetic has to fulfil these vows fully and completely, the same can be achieved only partially or in small degree by the house-holder. Thus the great vows (*mahavratas*) in the case of the house-holder become *anuvratas*. These vows have significance only in relation to the community. Without social reference the vows lose their virtue. Amongst these *Ahimsa* occupies the foremost place. And in a way, all others are a means to achieve the perfection of *Ahimsa*, which though apparently a negative term signifying non-injury to life, is in essence positive as it will include respect for all forms of life through love of not only human beings but also of all the creatures and plants and in fact, any form of creation vibrating with life. The one word that sums up the whole of Jain ethics is *Ahimsa* which inspires a Jain for active social service and makes him to pray for the good of all; "Let there be rain in every proper season. Let diseases die and famine and theft be nowhere. Let the law of Jain give all happiness to all the living beings of the world".

The vow of truth enjoins upon the ascetic that he will not resort to falsity either for his own sake or for the sake of others through fear or frown. Even the truth that hurts others is no truth⁹.

The *Asteya* is an ethical discipline of neither accepting even the most insignificant thing without the permission of the owner nor approving such an act of stealing the articles which belong to others.

The ethical vow of *Brahmacarya* is the cultivation of good moral character of celibate life renouncing all forms of sensuous pleasures and company of prostitutes or concubines. "Wine, Meat, gambling, erotic music with song and dance, personal decoration intoxicating, libertines and aimless wandering, those ten are the concomitants of sexual passion"¹⁰.

Parigraha is characterised by attachment to worldly gains. Problems of modern Indian society, may, of all the nations are rooted in the

spirit of acquisition. The world today is divided into two classes of exploiters and the exploited. There will be no final redemption from this evil unless the vow of *aparigraha* is observed both in letter and spirit. Greed for amassing the wealth, hoarding of goods of social need, cornering the material and intellectual wealth of the world for the good of one against others mark our age. *Parigraha* (acquisition) has resulted in the depletion of natural resources and pollution of atmosphere. The mankind faces in near future the problem of its extinction. Scientists are worried over the environmental catastrophe. What has brought about this sorry state of affairs in the planet which has been ruled since long by scientific slogan of conquest of nature which has been achieved through fierce spirit of competition an unprincipled greed and suicidal violence ?

As a result of violence (*Himsa*) falsity (*asatya*) of various ideologies based on some or the other kind of violence, enslavement of nation (*Steya*), permissiveness of sex and a life of luxury and indulgence (*abrahmacarya*) and amassing of physical and intellectual wealth by a nation or a group of nations (*parigraha*) the world is now sitting over volcano its own making facing its extinction through its own instruments of death and destruction. What can save us from this mad pursuit ?

Lord Mahavira preached the ethical discipline of five Vows not merely for the salvation of some individuals but for the survival of and development of the whole world through the cardinal doctrine of *ahimsa* and its other corrolories. The Social good in its ultimate analysis depends upon the perfection achieved by individual. There is no opposition between the good of the community and the individual, the two are inextricably inter-linked.

Those who followed Mahavira during the 2,500 years of his *Nirvana* perfected the details of essential ethical descipline only in relation to the spirit of his message. Many of these details are also significant as they underline the social and objective content of the virtues to be cultivated by a true Jain. Thus it was to perfect the cardinal principle of *Ahimsa* that the concepts of (i) *Mulagunas* (Primary moral virtues), (ii) the seven *Silavratas* (Vows of conduct educating the individual for the life of renunciation) (iii) the eleven *Pratimas* and of the (iv) *Sallekhana* (spiritual preparation for individual extinction) were developed for the house holder by a galaxy of Jain thinkers. For ascetics, the ethical discipline is more rigorous as is evident for the description of (i) five great Vows, (ii) the five *Samitis* (carefulness), (iii) the six *Avasyaka Karmas* (essential acts) consisting of *Samavika*, *Stuti*, *Vandana Prati-Karamana*, *Pratyakhyana* and *Kayotsarga*.¹¹ Conquest of twenty-two *parisahas*¹² (obstacles of various kinds caused by others), (v) and six kind of both the internal and external austerities, (vi) enjoining of various types of meditation and finally, (vii) espousing the spiritual death by a *Muni*.

While Jainism prescribes individual and spiritual values which seems to have an indirect relation with society it does not in any case ignore the social values which have been listed by Dr. K. C. Sogani in his book entitled "Ethical Doctrines in Jainism" (p. 266). These are universal compassion and friendship (*Bhuta Anukampa* and *Maitri*), Charity (*Dana*) Non-hatred towards the diseased (*Nirvicikitas*), Commentation of the meritorious (*Pramoda*), and Active Compssion for the distessed (*Karuna*)

or helping those who are miserable, thirsty and hungry, Indifference towards the arrogant (*Madhyastha*), Non-acquisition (*Aparigraha*), Non-injury (*Ahimsa*), Forgiveness (*Ksama*) and propagation of moral and spiritual values through adequate means (*prabhavana*).

The concept of *Punya* (Merit) and *Papa* (demerit) again bears social objective. There are nine ways of earning *punya* : through service of *anna* (food to the needy), *pana* (water to the thirsty), *Vastra* (clothes to the poor), *Layana* (shelter to the needy and the monk *Sayana*) (providing beds), and social service through *Mana* (mind) *sarira* (body), *Vacana* (speech) and *namaskara* (a sense of humility).

Himsa or infliction of any kind of suffering has been considered the greatest sin. The other seventeen sins are untruthfulness, dishonesty, unchastity, covetousness, anger, conceit, deceit and cheating, avarice, attachment, hatred or envy, quarrelsomeness, slander, false stories to discredit other, finding fault with others, lack of self-control, hypocrisy and false faith. The cultivation of the *punyas* and abstinence from the sins, enumerated above, do not only lead to the spiritual fulfilment but goes to make world perfect and worth living. This then underlines the relevance of Mahavira's teaching and social significance of his ethical discipline.

Dr. Schweitzer distinguishes Indian, more particularly Hindu, thought from Western thought mainly on the basis of antagonism between what he describes "world and life negation", and "world and Life affirmation".¹³ According to him Indian religion is other-worldly and Life denying; while the western religion affirms life, Dr. S. Radhakrishnan has adequately met his criticism by pointing out the central features of Hindu thought such as the four stages of life, the doctrines of *Karma* and rebirth which imply action in a real world, and by underlining the essential unity of all religions in denying the reality of the world¹⁴ and be contrasting religion and humanism: Criticism by Dr. Schweitzer will by apparently more pertinently applicable to the Jainism and Buddhism on account of their more pronounced emphasis on asceticism which is the essence of life-negation. A similar criticism is voiced by Henri Bergson in *The Two sources of Morality and Religion* (see pp. 216 & 227) wherein he terms Indian mysticism negative as against the positive mysticism of Christians. As pointed out earlier in introductory passage of this paper there is no radical difference between what is described as positive and negative mysticism because in their essence these are rooted in the basic unity of all and are ultimately concerned with the good of the individual and the community. Moreover positive mysticism is not necessarily Christian. It may have different forms. Mahayana Buddhism has no less concern, love and compassion for the mankind than the Christianity. The five Vows, the conception of *punya* and *papa* and active social service by Tirthankeras make the Jainism equally positive. Hinduism as understood and practised by savants of our age such as Ramkrishna, Vivekananda, and Gandhi underlines that what seems to Western critics as inferior religion in nothing more than their cultural prejudice. Accidents of an age or defilement by the professed votaries of a religion don't mark its essence. Otherwise the life-affirming, positive religion of Christians would appear more exploitative as its avowed followers enslaved one nation after the other, shed more blood than the water in the Ganges, even though the Christianity preaches love and service. Essence

of all religions is social good and individuals freedom. Jainism shows an important way of achieving it through rigorous discipline of body and mind.

The noted American physiologist, Prof. M. B. Visscher declared in his plenary lecture (reported briefly in The Times of India, Delhi, dated 24th October, 1974), at the 26th International Congress of physiological Scientists meeting at Delhi that one of the most pressing problems for human society today is "the kind of organised violence we can war. Personal violence, too, is not an, insignificant problem as the increase in the incidence of kidnapping, sky jacking, murder, robbery and rape all over the world indicate". He said that the world in which thermonuclear weapons existed in such a quantity as to be capable of destroying all life on our planet, it behaved society to learn more about violence and how to control it. Information gained from behaviour science that violence has biological roots is not sufficient. It is true that human animal has tendency towards violence and lust for power and money. *Himsa* and *Parigraha*, to use the words of Jainism, are biologically rooted in man. Should we then give way to despair because of the tendency of human animal to use his intelligence for violence through the large number of scientists and conclude that the future prospect was hopeless? Mahavira would say No. His indispensable ethical teachings of *ahimsa* and *aparigraha*, to name only two out of the five cardinal Vows, are the way for the freedom, peace and prosperity of the world troubled by excessive violence and over-powering spirit of exploitation and acquisition.

REFERENCE

1. Published by Holt, Rinchart and Winston, inc. 1964, see preface, p. v.
 2. Ibid. p. 417.
 3. See Pratt, *The Religions Consciousness*, pp. 7-12.
 4. See Nahar and Ghosh, *An epitome of Jainism*, p. 468.
 5. Malvin Reader, *Ethics and the Human Community*, New York, p. 915.
 6. *Op. Cit.*
 7. First sermon on Setting in Motion the Wheel of the Law. See Radhakrishnan, *Indian Philosophy*, vol. 1, MacMilan Company, London, 1956, p. 420.
 8. Umasvati, *Tattvarthadhigamasutra*, I 1.
 9. See *Dasavaikalika*, VI. 11.
 10. *Yasastilaka and Indian culture*. p. 267.
 11. See for details Dr. K. C. Sogani, *Ethical Doctrines of Jainism*, pp. 88-89, 138-141.
 12. *Indian Thought and its Development*, 1936.
 13. *Eastern Religions and Western Thought*, Oxford University Press, 1940, pp. 64-114.
-

नारी-जीवन के महावीरकालीन संदर्भों का पर्यावलोकन एवम् समीक्षण

डॉ. नेमीचन्द जैन

१. भगवान् महावीर के जन्म से पूर्व भारतीय नारी की सामाजिक स्थिति क्या थी, उसके प्रति पुरुष का कैसा दृष्टिकोण और सलूक था, उसे कितनी स्वतन्त्रताएँ और रियायतें प्राप्त थीं इसकी सूचना हमें वेदोत्तर और बौद्ध स्रोतों से प्राप्त होती है। इन विवरणों के अध्ययन और विश्लेषण से पता चलता है कि वह निषिद्धियों और वर्जनाओं के दूनिवार जाल में फँसी हुई थी। उसका व्यक्तित्व कुण्ठाग्रस्त था और उसमें एक ध्वंसकारी आक्रोश एवम् प्रतिकार जन्म ले चुका था। पुरुष दूसरी ओर सब तरह से स्वतन्त्र था, वह रंचमात्र भी बाधित नहीं था। नारी को धर्म, संस्कृति, समाज, राजकाज कहीं भी स्वतन्त्रता के पात्र नहीं माना गया था। यही कारण था कि महावीर की समसामयिक नारी सामाजिक अवमाननाओं के लिए एक तीखा संघर्ष कर रही थी। उसकी यह मुद्रा महावीर के समय में किंचित् असामान्य हुई। भारतीय परिवार में उसका वह स्थान नहीं था, जिसकी अपेक्षा की जा सकती थी। इस असम्मान और अप्रतिष्ठा की बड़ी गहरी प्रतिक्रिया हुई। महावीर और बुद्ध के आविर्भाव ने परिस्थिति को आमूल बदल दिया। नारी प्रबुद्ध हुई, उठी। उसमें बौद्धिक स्वतन्त्रता के लिए आवश्यक साहस उत्पन्न हुआ। महावीर और बुद्ध की प्रथम शिष्याओं ने जो प्रश्न किये हैं उनसे नारी के स्वतन्त्रता-बोध की सूचना मिलती है। महावीर के समय में नारी-जीवन को जो सबसे बड़ा और प्रमुख उत्थान मिला वह धार्मिक है। समाज में वह भले ही असम्मानित, तिरस्कृत और बहिष्कृत रही किन्तु महावीर ने उसे उतना ही सम्मान और प्रतिष्ठा दी जितनी पुरुष को पूर्ववर्ती स्थितियों में प्राप्त थी। इसने परिस्थिति को पलट दिया। अभी तक नारी पर धार्मिक और सामाजिक वर्जनाओं का कोड़ा था, किन्तु अब उसने एक सामाजिक समता के नवयुग में प्रवेश किया। महावीर के चतुःसंघ में श्रमण-श्रमणा और श्रावक-श्राविका की पृथक्-पृथक् आचार-संहिताएँ हैं, किन्तु उनमें असमानताएँ कम और समानताएँ अधिक हैं; असमानताएँ जो भी हैं, वे अधिकांशतः स्थानिक और सामयिक दबाव के कारण हैं। महावीर के समय के और उनके पूर्ववर्ती तीर्थंकरों के जीवन से सम्बन्धित जो सांख्यिकीय जानकारी प्राप्य है उसमें सर्वाधिक रोचक वे आंकड़े हैं जिनमें साधु-साध्वियों की संख्याएँ दी गयी हैं। इनके अवलोकन से स्पष्ट हो जाता है कि प्रायः सभी तीर्थंकरों के शासनकाल में पुरुष की अपेक्षा नारी ही अधिक धर्मप्रवृत्त रही। ऐसा क्यों हुआ, इसका समाजशास्त्रीय दृष्टि से गहरा अध्ययन होना चाहिए। महावीर के युग में उनके संघ में १४,००० साधु और ३६,००० साध्वियाँ थीं; ऋषभनाथ के समय में श्वेताम्बर साक्ष्य के अनुसार ३,००,००० तथा दिगम्बर साक्ष्य से ३,५०,००० साध्वियाँ थीं, साधुओं की संख्या कुल ८४,००० थी। पारश्वनाथ के समय यह आँकड़ा था; साध्वियाँ ३८,००० (दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों स्रोतों के अनुसार) तथा साधु १६,०००

(दोनों प्रमाणों के अनुसार)।^३ इन आंकड़ों से घबराहट तो होती है; किन्तु तत्कालीन संत्रास और सामाजिक असम्मान का सामना करती भारतीय नारी का एक स्पष्ट चित्र सामने अवश्य आ जाता है।

२. महावीर के समय में नारी के प्रति सम्पूर्ण समाज के दृष्टिकोण में एक युगान्तरकारी परिवर्तन हुआ। अब उसे 'दासी' अथवा 'भोग्या' रूप में केवल एक मात्र इन्हीं संदर्भों में देखना असम्भव हो गया। महावीर ने उसके व्यक्तित्व को नया आयाम दिया, जिससे उसका सामाजिक सम्मान और प्रतिष्ठा बढ़ी। गौतम बुद्ध की प्रथम शिष्या गौतमी ने जो मूलभूत प्रश्न उठाया था, वह आज भी उत्तर ढूँढ रहा है। गौतमी ने इसे गौतम बुद्ध से किया था। वस्तुतः वे इसका कोई सुसंगत समाधान नहीं दे सके। उन्होंने अन्य संघों में जो परम्परा प्रचलित थी उसका उल्लेख तो किया, किन्तु कोई बौद्धिक संतुष्टि वे नहीं दे सके। गौतमी की पृच्छा थी : 'भन्ते, चिरदीक्षिता भिक्षुणी ही नवदीक्षित भिक्षु को नमस्कार करे; ऐसा क्यों? क्यों न नवदीक्षित भिक्षु ही चिरदीक्षिता भिक्षुणी को नमस्कार करे?' बुद्ध ने कहा : गौतमी इतर संघों में भी ऐसा नहीं है। हमारा धर्मसंघ तो बहुत श्रेष्ठ है।^४ इससे स्पष्ट है कि यदि बुद्ध अपने संघ में इस परम्परा को परिवर्तित करते तो उसकी श्रेष्ठता प्रभावित होती; किन्तु यहाँ महत्व का तथ्य यह है कि गौतमी ने प्रश्न उठाने का साहस किया है और बुद्ध ने उस पर ध्यान दिया है। नारी के जीवन-स्तर में प्रतिबिम्बित यह स्थित्यन्तर स्वयम् में एक इतिहास रखता है। 'जयन्ती' श्राविका की पृच्छाएँ भी इस दृष्टि से महत्व रखती हैं।^५

३. साध्वियों से सम्बन्धित जो आँकड़े हम ऊपर दे आए हैं, उनका समाजशास्त्रीय दृष्टि से गहन महत्व है। इन आँकड़ों के मनोवैज्ञानिक अध्ययन से जो समस्याएँ उभरेंगी, उनमें से कुछेक इस प्रकार होंगी—

क. महावीर के संघ में साधुओं की अपेक्षा साध्वियाँ अधिक क्यों थी? क्या इसका कोई सामाजिक कारण था? अथवा जैनधर्म की ऐसी कौन-सी विशिष्टताएँ थीं जिनके कारण पुरुष की अपेक्षा स्त्रियाँ अधिक दीक्षित होती थीं? क्या यह माना जाए कि पुरुष की अपेक्षा नारी अधिक धर्मानुरागी होती है या फिर स्वीकार किया जाए कि तत्कालीन समाज में पुरुषों की संख्या स्त्रियों की संख्या से कम थी; और यदि ऐसा ही था तो समाज में पुरुष की प्रधानता क्यों थी?

ख. क्या विवाह-संस्था उलझनपूर्ण थी? कहीं 'दहेज' जैसी घातक प्रथाओं का परिणाम तो यह बढ़ी हुई संख्या नहीं थी? कहीं ऐसा तो नहीं था कि नारी पर हुए लगातार प्रताड़नों और अत्याचारों के फलस्वरूप उसमें कोई सामाजिक जुगुप्सा उत्पन्न हो गयी थी और उसने अपनी अभिव्यक्ति की यह नहर खोज निकाली थी?

ग. यह भी सम्भव है कि महावीर के समकालीन धर्मों में नारी को लेकर प्रवेश पर कठोरताएँ रही हों, फलस्वरूप जैन साधु-संघों में नारी की संख्या अधिक रही हो। यह भी सम्भव है कि व्यक्तिवादी चेतना के प्रभाव ने साध्वियों की संख्या में वृद्धि की हो; जो हो इससे यह निष्कर्ष तो लिया ही जा सकता है कि व्यक्ति के विकास की जितनी यहाँ सम्भावनाएँ हैं उतनी अन्यत्र नहीं हैं।

इस तरह यह आवश्यक है कि आँकड़ों के इस वैषम्य का सावधान मूल्यांकन और समीक्षा किया जाए।

४. महावीर की इस प्रतिपत्ति ने कि 'सत्रका निजी व्यक्तित्व है और निजी सत्ताएँ तथा स्वतन्त्रताएँ हैं। न कोई किसी की सत्ता को छीन सकता है, न बदल सकता है, न उसका अनिक्रमण कर सकता है। सब अपने स्वरूप में संचरित हैं नारी के लिए एक नव-सामाजिकता और नव-धार्मिकता को विकसित किया। इन परिवर्तनों के बीच भारतीय नारी की व्यक्तित्व रचना भिन्न स्तर पर हुई। स्त्री-जीवन के मूल्यों में उल्लेखनीय परिवर्तन हुए।

५. भारतीय समाज में विवाह-संस्था एक जटिल संस्था है। मानवीय सम्बन्धों के निर्धारण में इसका सर्वाधिक महत्व है। जैनों की इस सन्दर्भ में कोई पृथक् संहिता नहीं है। बहुधा उनकी इस संस्था पर स्थानीयताओं और सामयिकताओं की ही छाप रही है। आर्यकालीन समाज रचना में विवाहों के ८ प्रकार माने गए हैं; किन्तु जैनों ने इनमें से ब्राह्म, दैव, आर्ष और प्राजापत्य विवाहों को ही स्वीकार किया है; शेष आसुर, गांधर्व, राक्षस, और पैशाच अमान्य किए हैं।^{१६} स्वीकृति-अस्वीकृति की इन मुद्राओं में भी नारी-स्वातन्त्र्य की धारणा को पहचाना जा सकता है। गांधर्व विवाह को छोड़कर शेष यानी आसुर, राक्षस और पैशाच विवाहों में दहेज देने का प्रचलन है। जैनों ने जिन प्रकारों को मान्य किया उनमें 'दहेज' महत्वहीन है किन्तु स्थानिकताओं के प्रभाव के कारण जैनों में दहेज का आत्यन्तिक प्रचलन हो गया है। इन नयी परिस्थितियों के कारण भी जैन नारी को नयी सामाजिकता और धार्मिकता को विकसित करने की प्रेरणा मिली है।

६. जैन विवाह-संस्था ने दो तत्वों को विशेष रूप में विकसित किया है; ये हैं—धार्मिक सहिष्णुता और धर्म-निरपेक्षता। आज भी ऐसे जैन-जैनेतर परिवार हैं, जिनमें एकाधिक धर्मों का परिपालन होता है। महावीरकालीन भारतीय परिवारों में तो इस तरह की सामाजिकता अति सामान्य थी। माना इससे कई समस्याएँ उत्पन्न हुईं, किन्तु इस विविधता के कुछ लाभ भी थे। पारिवारिकता के इस परिवर्तित सोपान पर नारी का दृष्टिकोण उदार हुआ और उसे अपनी स्वतन्त्रता को अभिव्यक्ति देने के मौके मिले। धार्मिक सहिष्णुता और निरपेक्षता की धारणाओं ने भी नारी-व्यक्तित्व के उन्नयन में अपनी भूमिकाएँ निभायीं।

७. पाँच महाव्रतों में अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य महत्व के व्रत हैं। जब इन्हें

गार्हस्थिक स्तर पर पाला जाता है तब ये 'अग्नाव्रत' कहे जाते हैं और मुनि के स्तर पर इनकी संज्ञा 'महाव्रत' रहती है। इनके अलावा अन्य व्रत हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय। पार्श्वनाथ तक चातुर्याम चलता रहा। इसमें ब्रह्मचर्य सम्मिलित था। परिग्रह को मूर्च्छा कहा गया है, ब्रह्मचर्य एक अमूर्च्छा है। नर-नारी-सम्बन्धों के निर्धारण और मूल्यांकन में इन दोनों व्रतों की महत्वपूर्ण भूमिकाएँ हैं। अपरिग्रह से ब्रह्मचर्य तक की हमारी व्रत-यात्रा का समीचीन भाष्य होना आवश्यक है। इससे नारी-व्यक्तित्व के कई आयाम व्यक्त हो सकेंगे।

८. जैनदर्शन के 'अनेकान्त' 'स्याद्वाद' सम्बन्धी सिद्धान्तों ने भी नारी के प्रति सदियों से चले आ रहे परम्परित बर्ताव और दृष्टिकोण को चुनौती दी। महावीर के समय में जो शक्तियाँ दुराग्रह पर अड़ी हुई थीं, उनको सहने और उन्हें सही पटरी पर रखने में अनेकान्त-दृष्टि का बहुत बड़ा प्रदेय है। इस नये बौद्धिक ढाँचे में अब नारी को लेकर किन्हीं आत्यन्तिकताओं में चलना सम्भव नहीं था। इस तरह पुरुष-संदर्भों में जो नारी-पूर्वग्रह थे, वे लगभग समाप्त हो गए और एक स्वस्थ नर-नारी-सम्बन्ध-संरचना की दिशा में समाज, धर्म और संस्कृत के पग उठने लगे।

९. महावीर की समत्व-दृष्टि भी इस सन्दर्भ में उल्लेख्य है। महावीर से पूर्व की नारी अन्धी सामाजिक परम्पराओं और रूढ़ियों में जकड़ी हुई नारी थी; वह पुरुष की स्वामित्व-भावना की शिकार हुई थी। उसे जिन्स की तरह निर्जीव माना जाता था। उसकी खरीद-फरोख्त होती थी। यही कारण था की उसके हृदय में पुरुष-समाज तथा उसके द्वारा निर्धारित व्यवस्थाओं के प्रति प्रतिशोध की भावना उत्पन्न हो गयी थी। भगवान् महावीर ने इस दुर्भाव का प्रक्षालन किया। उन्होंने 'वस्तु को उसकी वास्तविकता में' समझने की दृष्टि दी। जो जिस व्यक्तित्व में है, उसे उस व्यक्तित्व में जानने-देखने के संस्कार को उन्होंने विकसित किया। यह वैज्ञानिक था, और इसने ऐसे युग में जब लोग दुराग्रहों और पूर्वग्रहों में जी रहे थे, इसने विवेकपूर्ण और संतुलित जीवन-दर्शन को प्रतिपादित किया। इससे मानवीय सम्बन्धों को लेकर क्रान्ति हुई। जब जैनदर्शन सम्पूर्ण लोक और उसमें स्थित द्रव्यों को पूर्णतः स्वतन्त्र मानता है, तो ऐसा कौन-सा कारण है कि नारी के स्वतन्त्र व्यक्तित्व और उसकी सत्ता को स्वीकार न किया जाए? भगवान् के इस उद्घोष ने कि 'वैर से कभी वैर शान्त नहीं होता' कई नयी रचनात्मक सम्भावनाओं को जन्म दिया। इसकी छाया-तले नारी के हृदय से पूर्वसंचित विद्वेष और प्रतिकार को दूर किया और विश्वमैत्री के लिए नये क्षितिजों का निर्माण किया। कहराणा, मैत्री, निर्वैर और समवेदना पर आधारित मानवीय सम्बन्धों के पुनः संस्थापन के कारण हम भगवान् महावीर को सामाजिक दृष्टि से भी कभी विस्मृत नहीं कर सकते। नारी-मुक्ति और नवोन्नयन की दृष्टि से भगवान् महावीर की जो देन है, उसे कभी भी भुलाया नहीं जा सकता।

उद्धरण

- १—आगम और त्रिपिटक, एक अनुशीलन, खण्ड-१ (इतिहास और पराम्परा) : मुनि नागराज : जैन श्वेताम्बर तेरापन्थी महासभा, कलकत्ता : १९६९ ।
- २—जैनधर्म का प्राचीन इतिहास, भाग २ : परमानन्द शास्त्री : मेसर्स रमेशचन्द्र जैन मोटरवाले, पी. एस. जैन मोटर कम्पनी, रायपुर रोड़, दिल्ली : १९७५ ।
- ३—जैनधर्म का मौलिक इतिहास, प्रथम भाग : आचार्य हस्तीमलजी महाराज : जैन इतिहास समिति, जयपुर (राजस्थान) : १९७१ ।
- ४—जैनिज्म अंग्रेजी : श्रीमती एन. आर. गुसेवा : सिन्धु पब्लिकेशन्स प्रायवेट लिमिटेड, बम्बई : १९७१ ।
- ५—दशवैकालिक सूत्र : आचार्य तुलसी, मुनि नथमल : जैन विश्व भारती, लाडनू (राजस्थान) : १९७५ ।

SCIENTIFIC BASIS OF FOOD AND DIET IN LORD MAHAVEER'S TIMES

Dr. N. L. Bordia,

Emeritus Professor of Tuberculosis,
M.G.M. Medical College, Indore (M. P.)

We all need food because we have to grow physically from birth and to maintain a sound health in life. We need to eat not because we feel hungry but hunger is a nature's mechanism to call for taking in food. Similarly we feel thirsty because the system needs fluid which we take as water or other water containing drinks. The purpose of eating is therefore simple. We should eat only those foods which are necessary for maintaining sound health.

In the growing child certain essential elements for growth are required much more than in the later ages. Once the full growth is attained we need those essential elements in lesser quantity to replace and provide for repair of destroyed tissues which is a constant daily process of life. We need calories to provide for maintaining heat for keeping our body warm and to give us physical energy to work. It is calculated that every red cell which gives the red colour to our blood is completely replaced in the body within a month. That means the destruction and repair of the entire body cells is going on daily in any situation or state we may be in.

The basis of in take of varieties of foods and formulation of dietic system in Jain literature which appears to have taken roots from Lord Mahaveer's times are two. (I) The first is on the principle of doing no harm to any living, moving creature that means on Ahinsa (अहिंसा) of highest order and which is necessary for accomplishment of the aim of life. (II) On maintenance of sound health. It is on these two basic principles that foods selected from the universe as available in different regions form the basic of recommendations of what to eat and not to eat have developed. Another important consideration is that food should be such which may not put severe strain on digestion and should not cause unnecessary stimulation to various vital organs.

The human machine has many characteristics. It has remarkable power of accommodation. Even in our own country we find the eating habits of the North are entirely different that the South Indian population who are in no way less healthy. In fact we hear very often people crossing a century among the poor who have lived on cheap vegetarian diet all their life with sound health even at 100 years of age and who perform their daily duties and take care of themselves regularly through out life. The human machine, apart from a few essential elements like protein, vitamins and a few salts and water does not need any special type of food. It entirely depends on the habits to which a person becomes accustomed to eat whether on rice or Juar, Wheat or ragi, Bajari or maize. They are just the same to the body. All that the body of grown up adult needs is a cereal like wheat or Juar or rice in natural coarse form, supplemented with any legumes like Dal, peas, Chana or Moong or black grain; some green fresh leaves like coriander (धनिया) or Mint (पौदीना) leaves or fresh

citrous fruit like a bit of lemon juice, orange etc. will give adequate nourishment. It is essential for a sound health to have a small quantity of milk or milk product at all ages. In the growing child it is more essential for growth physical and mental, in the young boys and girls for development of muscles and other important tissues and in the elderly for replacement of tissues which daily wear and tear. All other foods are not essential. You may eat what you like to make up to provide calories according to your requirement. A labourer at 20 years will need 4000 calories while an office going man will need only 1800 and an old man in whom the systematic fire (Metabolism) is burning at a lesser speed will need still lesser. Human system of females is made of such type that they need less food than the males.

Food Habits and Diet in Lord Mahaveer's Times—

In the pre-Lord Mahaveer era the various communities appear to have been divided into different castes. The rich Rajputs, numerous princes and chieftains their commanders and soldiers were at the top. They were supported by the Brahmins who were priests and controlled the temples. They had monopolised religious practices. They taught that the Gods *will shower pleasure on those who offer animals on their temple alter*. The more the person was rich the larger the number of animals were slaughtered through him. Thus meat eating became God's Prasad. Various types of Gods and goddesses thus came to be worshipped. Wherever a society is rich more expensive delicious foods are chosen in formulating the diet menu irrespective of its nutritive value and the harmful effects it would have not only on the digestive organs but other more vital organs. The cost of diet did not have any proportionate benefit to the human body. This practice continues even today. Our entire hotel service is a glaring example of the harm that is being done to the youths of this country. Taking alcohol was also prevalent and formed an important part of luxury of life.

The other groups were the Brahmins who in principle were lacto-vegetarians but often they relaxed their conduct when it came to accepting meat as God's Prasad. In other parts eating of fish was considered vegetarian. The Vaishyas were the community which was lacto-vegetarian. The Shudras has no money to become non-vegetarian but they ate what came to them.

Even then, the Rajputs and Brahmins accepted Vanaprasthashram and Sanyas the ways of living in later part of life. They left their homes and lived in forests, along river banks or in the hills. They lived on a pure lacto-vegetarian diet but no meat was taken. They also believed in limited fasting to control their passions and to attain salvation for their soul. They accepted limited intake of small quantity of food for better concentration of mind and for meditation. They kept cows with care so that they could maintain their health with the help of their milk. The rest of the diet was small consisting of fruit and vegetables growing more often wild in the forests.

Lord Mahaveer was born in those times when destruction or slaughter of animals before Gods and goddesses was at its zenith and meat eating was very prevalent. He was very much pained to see these helpless crea-

tures being slaughtered and to be eaten. He took upon himself one of the greatest experiments of his age to eat very little and took upon himself the trial of fasting and observing the effects of these privations. He proved that this human machine is amenable to considerable stress and strain. He ate little and still maintained reasonably sound health and lived to a good age. He preached the highest order of Ahinsa in all walks of life. Purpose of eating is to maintain good health and the food should be such that it is not taken merely for the pleasure of taste. Secondly, if the aim of life is spiritual development to the extent that we succeed eventually in preventing rebirth that means salvation of the soul than our food has to be such that our diet should be conductive to that objective.

Man is the immediate successor of the Monkey in natural history, who is a strict vegetarian. Human being resembles the monkey the most in the animal kingdom. Human being in nature is a vegetarian. He, by his devilish tendency has developed all sorts of weapons for the destruction of his own race. It is said that today the world has collected 21,00,000 times more deadly weapons than the Heroshima atom bomb. So, he also developed instruments of killing not only men of his race in war but also utilized them for destruction of his animal life and for eating it for his own pleasure.

Jainism has as its basic principle Ahinsa the sheet anchor of religion in its highest degree for salvation of the soul. In Jain cannon greatest stress is laid on eating these articles of food which contain least life. Cereal and legumes are freely permissible because there is only one single life in each grain. Eating of such articles like gular like figs and Brinjals is discouraged as it contains numerous lives. Tubars which grow underground are often prohibited specially in the higher age people because Potato, Carrots, Arum (Arvi), turnips, onion etc. contain practically no protein and these foods create gas formation in the intestines. They are of a poor nutritive value, but there is more destruction of ground life and therefore are considered undesirable.

The rich world of today is developing meat eating habits. The result is that diseases like high blood pressure, kidney diseases, liver disorders and heart diseases are becoming common. Diabetes is also more common in those who eat more. If a prospective diabetic patient develops the habit of eating less and remains slim he may not develop diabetes at all. People who eat meat bleed more from wounds. In the West many countries have started vegetarian hotels as treatment centres for those who have coronary heart diseases, high blood pressure and kidney diseases. Every heart specialist would agree with me and teaches that starvation is a best preventive for heart attack provided you practice on earlier age.

With advancing age enlargement of prostate and getting up for passing urine is more common. All elderly people get disturbed sleep because they get up twice, thrice or more times for passing urine at night. But if the evening meal is taken before sunset and intake of water after sunset is forbidden by ones own discipline, surely the problem of a disturbances of sleep is also reduced. Many patients of enlarged prostate will be able to avoid surgery if they inculcate the habit of having the last meal by 5 p. m. and last intake of water by sunset.

The human body has many other mechanisms of adjustment. If you eat only starch or sugar it is converted into fat. So even if a man does not eat ghee or oil or fat in any form the body manufactures it from other foods eaten. Suppose a man starves and does not eat any thing, but drinks water only, the metabolism of the body is lowered and his system consumes less fuel than he would normally have required. Thus, many people who undertake fasting are not necessarily thin people, even if they do not eat much after the fasting is over. Thus numerous factors play a part in keeping a sound health. It is a well established fact that for longevity limited starvation is very useful prescription.

People today are more sick because they over eat rather than by under nourishment specially in the well to do that is middle class and upper class societies. Longevity demands remaining hungry. People who observe discipline in diet and undertake regular limited time fasts remain more healthy and live much longer. Over eating habits are responsible for high blood pressure, heart disease, diabetes and other ailments. These are increasing day by day because the well to do who are not interested in their spiritual development go on eating rich foods without doing any physical labour. The Jain canon has very wisely excluded foods which are liable to produce pathology but are conducive to control of mind suppression of passion and helpful in human salvation. In times of scarcity the Jain diet puts less strain on society and is helpful in balancing the shortage of food in the country.

भाषा-खण्ड

MAHAVIRA'S DOCTRINE OF AHIMSA AND ITS IMPACT

Dr. S. M. Pahadiya,
Ujjain.

The doctrine of *ahimsa* has been alluded to in the Avesta.¹ The Buddhist literature², the Epic literature³, the Smriti literature⁴, the Bible⁵ and the Koran⁶ also refer to it. They somehow resemble Mahavira's doctrine of *ahimsa*.

Mahavira's Ahimsa as Singular :

Before and in the time of Mahavira himself, *himsa* was on the forefront. Violence or *himsa* became, as it were, the cult. The cow-herds were compelled to give their animals in hundreds to be slaughtered by the kings and chieftains in the name of religion.⁷ Life had grown insecure, and sense of despair was prevailing all over the world. A sensitive soul like Mahavira could not tolerate all this.⁸ He renounced to the world, performed penances, attained *jnana* and taught the ethics of *ahimsa*, *asteya*, *satya*, *aparigraha*, and *brahmacharya*. Out of these, *ahimsa* is worth a king's ransom. His Indian contemporary Buddha spoke of it.⁹ His foreign contemporaries like Confucius¹⁰ and Lao-tse¹¹ to lent a support to the principle of *ahimsa*, and in one way or the other propagated it in their own way.

The way Mahavira inculcated the idea of *ahimsa*, and made it a code of religion, a norm of faith is very singular.¹² His principle of *ahimsa* is not negative but positive in its application.¹³ It implies not only not-killing, but piety, human treatment and service to others. Mahavira was in favour of practising *ahimsa* in its completeness without allowing any exception.¹⁴ According to his principle of *ahimsa*, life (as such) is sacred in whatever form it may exist, and therefore, no injury should be done to any being.¹⁵ But, one might say, life in this world is well-nigh impossible with the absolute abstention from injury to all forms of life. But, here, it should be remembered that *himsa* for the sake of *himsa* is supposed to be a sin.¹⁶

The followers of Mahavira preached and followed *ahimsa* as fully as possible in different spheres of life with exception as and when necessary.¹⁷ They laid stress on the necessity of avoiding all types of *himsa*, violence, which they called *bhava-himsa*, intentional violence, as opposed to *drvyā-himsa*, unintentional violence. Real violence is that which is caused under the influence of passion.¹⁸

Impact of Mahavira's Ahimsa and its Relevance in Modern Context :

The impact of Mahavira's doctrine of *ahimsa* is visible in his (Mahavira's) own time and even afterwards. Not only the general mass, but even the chiefs and the rulers adopted it, and tried to give lawful protection to all form of life. Pradyota's younger brother, Kumarasena, was all for non-violence.¹⁹ Even Asoka is known to have attempted to abolish sacrifices and slaughter of animals. On the positive side of *ahimsa*, he tried for the good of men and beasts alike. He opened hospitals even

for animals.²⁰ One king Siladitya Dharmaditya was so staunch a follower of *ahimsa* that he supplied strained water even to his elephants and horses, and he himself never killed even an ant.²¹ Asvarata, a Chauhan feudatory of Solanki ruler Kumarapala, commanded for strict observance of *ahimsa* in his kingdom on certain days.²² Kumarapala himself, under the influence of Hemachandra, gave up hunting animals, eating meat etc.²³ Akbar, the founder of Din-Ilahi, forbade the slaughter of animals at the instance of Hiravijaya²⁴ and Jinachandra²⁵ One Bhila chief, Arjuna, of Sartara, and Rava Surtana of Sirohi are after being influenced by Hiravijaya, also known to have taken the vow of not to kill animals and eat meat.²⁶ Further, from an inscription of 1715, we know that the oilmen of the town of Deoli (Pratapgarh State) had agreed to stop working their mills for 44 days in a year at the request of Saraiya and Jivaraja of the Mahajana community during the reign of Maharaval Prithvisimha.²⁷ They did so with a view to avoid *jiva-himsa* as much as they possibly could. The principle of *ahimsa* had its impact on Mahatma Gandhi also. He applied it to almost all spheres of life and made it a spiritual crusade for the rights of all living beings.²⁸

Mahavira's doctrine of *ahimsa* has had salutary effect on diet. Giving up meat-eating and adherence to vegetarian diet went a long way in introducing various and delicious vegetarian-dishes. The vegetarian diet, in its turn, implies a moral act which strengthens man's control over himself in the first instance, and then over his environment.²⁹ Then, it could make people live longer. Medical Science has also, now, shown that there are indications that vegetarians live longer than non-vegetarians.³⁰

Besides, the principle of *ahimsa* led to the mitigation of the rigorous and ruthless criminal justice in India. The penal code was modified and humanized.³¹ Compassion for the suffering of fellow beings is just the other side of non-harming (*ahimsa*). The principle of *ahimsa*, compassion, has been at the back of many philanthropic and humanitarian deeds and institutions which Mahavira encouraged, and which the people under sway of his teaching of *ahimsa* stuck to.

This very doctrine of *ahimsa*, as propounded by Mahavira, is most relevant in modern context. The greatest problems today, is how to avoid the future war³² for the protection of humanity. Each nation is, now, spending huge wealth in atom bombs, and other deadly weapons. The war fought with these weapons will be quite different from those of the earlier times; it will be more dangerous and will hardly leave any trace of civilization. Such a catastrophe can be avoided only if all people follow the doctrine of *ahimsa* (as promulgated by Mahavira) in thought, word and action.³³ For the improvement of human nature, a person should individually follow the doctrine of non-injury to creatures and non-slaughter of animals. On the positive side, he should try for the welfare of all living beings. By the observance of *ahimsa*, people will naturally follow the policy of disarmament, and therefore, there will be no danger of any war. The national and international problems will be solved by mutual discussion in a right spirit. And we know that solution to the Vietnam-problem was attempted through this way only. The policy of violence does not pay. U. N. O. has been, rightly, trying to solve international problems through the policy of *ahimsa*.

REFERENCE

1. In the *Avesta*, killing of animals has been condemned. In it, Ahuramazda looks down upon those who recommend killing animals (*Gatha* 34:3)
2. In the *Mahavagga*, intentional teasing to others is prohibited. In the *Dhammapada* (10:1), it is written that no one should kill anybody, that no one should instigate other to kill.
3. The *Mahabharata* highly praises *ahimsa*.
4. The *Manusmriti* deprecates meat eating.
5. The *Bible* says, "Thou shalt not kill".
6. In the *Koran*, we are told that the animals should be pitied. In it, it is said, "*Misimaltaba rahimannur Rahim*". See, also, Muniraja Vidyavijaya : *Ahimsa*; Ganesh Muni Shastri : *Ahimsa Ki Boati Minarevm*, Agra, 1958.
7. Reference, Buddhist records. See, also Shri Mahavira's Commemoration Volume 1, p. 74.
8. Mahavira could not bear the naked dance of *himsa* in the name of religion. He said that *himsa* could never be the religion. All beings all over the world want to live. Therefore, 'Live and let live others said Mahavira. See *Vaikalikasutra* 6 11
9. The Buddhist Golden mean attenuates the principle of *ahimsa prima facie*. of. *Dighanikaya, Mahaparinibana*.
10. Confucius said, "Do not do to others what you yourself do not like".
11. Lao-tse said, "I behave well even with those who behave otherwise.
12. Although almost every religious school had laid stress, to a more or less degree, on the principle of non-violence, but the supreme importance and wide application that it receives in Mahavira ethics is not found in any other school.
13. From philological point of view, the word *ahimsa* is prohibitive.
14. This was best illustrated by his life of finite tolerance and forbearance See, what he said :

‘Khamemi savve jiva
Savve jiva kamantu me
Meti me savvabhuesu
Veram majjham na kenani’.

That is, "I renounce my animosity, and seek pardon from all beings : let all beings pardon me and give up their animosity : I have friendliness for all and enmity for none" Reference, Bulletin of the Ramkrishna Mission, xxv, No. 4 April. 1974, p. 94.

15. Even the English Romantic poets like Wordsworth preached *ahimsa* in this very spirit and tone. Cf :

‘Our meddling intellect
Misshapes the beauteous forms of things
We murder to dissect’.

Shelley also gave poetical expression to the creed of non-injury in the 'Alastor' or 'The Spirit of Solitude'. Cf.

'If no bright bird, insect or gentle beast
I consciously have injured, but still loved
And cherished these my kindred : then foregive
This boast, beloved brethren and withdraw
No portion of your wonted favour now'

This creed of non-violence extends not only to animals but also to the vegetable kingdom. Long before J. C Bose, Wordsworth declared that plants had life. Cf :

'And 'tis my faith that every flower
Enjoys the air it breathes'.

Reference, A *Quarterly on Jainology*. IX, January, 1975.

16. Else, the doctrine of *ahimsa* itself permits four kinds of *himsa*—accidental, occupational protective and intentional. Some speak of *Sankalpni* (done intentionally), *arambhi* (done while carrying out household affairs), *udyogi* (done while ploughing etc.) and *virodhi* (done for safeguarding nation) *himsa*.
17. It will be wrong to call Mahavira's doctrine of *ahimsa* as grotesque exaggeration (Mrs. S Stevenson : Heart of Jainism). Nor is it right to say that the principle of *ahimsa* is against national security, and has weakened Hindu community. History tells us that even some Jainas like Vimala, Vastupala, Udayana, and Tejagadahiya were gallant generals and military leaders who served their chiefs with remarkable royalty and gallantry and proved equal to the generals hailing from war-like races such as Rajputs, Jats and Muslims.
18. The Jaina philosopher Umasvati defined *himsa* as '*Pramatta yogat pranvyaparopanam himsa*'.
19. We are told that he was killed when he tried to put an end to practice of selling human flesh in the Mahakala temple. See, Pradhana Chronology of Ancient India, pp. 72, 335.
20. See, Rock Edicts 1, 4, 8 and Lumbini Minor Pillar Edict.
21. N. M. Joshi : Studies in the Buddhist Culture of India, pp. 49, 90, 91.
22. K. C. Jain : Jainism in Rajasthan. p. 20.
23. Ibid., p. 207.
24. He persuaded the emperor in 1592 A. D. to forbid slaughter of animals for six months. This fact is clear from an edict issued by the emperor. See, K. C. Jain : Jainism in Rajasthan, p. 210.
25. Jinachandra prevailed on the king to order the prohibition of animal-killing for seven days (*Navami* to *puṇnima*) every year in the month of *Ashadha*. Akbar is also known to have observed the vow of non-violence for 8 days when he was in Kashmir. See, K. C. Jain : Jainism Rajasthan. p. 211.
26. K. C. Jain : Jainism in Rajasthan, pp. 209, 210.

27. Annual Report, Rajputana Museum, 1934-1935. No. 17.
 28. Many people trace the influence of Jaina St. Srimad Raichandra on Mahatma Gandhi. See, Bulletin of Ramkrishna Mission, XXV, No. 4, April, 1974, p. 94.
 29. This is, perhaps, what Mahatma Gandhi meant when he talked of the 'moral basis of vegetarianism. 'See The Illustrated Weekly of India XCVI, 42, October 19, 1975, pp. 17-18.
 30. Then, the vegetarians represent a higher state of consciousness in the human being. The evolutionary game is one which the vegetarians are fond of playing both ways. Even as they point out man's natural affinity to the ape, with its vegetarian habits, they also maintain that vegetarianism is the culminating phase in the dietary changes that have marked the homo-sapiens' transformation from beast to man. See, The Illustrated Weekly of India, XCVI, 42, October 19, 1975, p. 18.
 31. The Cholas are famous for (rather defamed) the leniency they showed to the criminals.
 32. The future war may mean either the end of war or the end of human race, for it will be a thermonuclear war.
 33. *Uttaradhyanasutra*, VIII, 10 It is not enough that one does not oneself directly injure. One should not cause injury through agent, nor approve of the conduct of others indulging in violence, *himsa*. See also, *Ratna Karanda Sravakasutra*.
-

भगवान् महावीर की मूलवाणी का भाषा-वैज्ञानिक महत्व

डॉ. देवेन्द्रकुमार शास्त्री, शासकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, नीमच

प्राचीनतम भारतीय साहित्य शताब्दियों तक श्रुतियों के रूप में प्रचलित रहा। केवल मौखिक परम्परा ही उस साहित्य को जीवित रखने में समर्थ हुई है। जैन साहित्य की प्राचीनतम परम्परा भी मौखिक एवम् श्रुति रूप में एक कालातीत श्रमण-संस्कृति तथा आर्हत धर्म की आगम-वाचना के रूप में विश्रुत रही है। भगवान् महावीर की मूल वाणी आज “आगम” के नाम से प्रसिद्ध है। जो ‘श्रुत’ भगवान् महावीर से परम्परा रूप में प्राप्त हुआ, उसे सामान्यतः “आगम” कहते हैं। आगम शब्द की निरुक्ति है : जिन आत्म-वचनों से पदार्थ का ज्ञान होता है, उनको आगम कहते हैं।¹ यथार्थ में जो वाणी निर्मल आत्मा की उपलब्धि में सहायक है, जिन्होंने निर्मल आत्मा को उपलब्ध कर उसके आगम का उपाय बताया गया है, उनकी वाणी को “आगम” कहते हैं। इसलिए “आगमद्रव्य” का अर्थ “आत्मा” किया गया है।² जैनधर्म कहिए या आत्मधर्म दोनों समानार्थवाची हैं। आगम में मुख्य रूप से आत्मोपलब्धि का निरूपण किया गया है। संसार में विभिन्न विषय हैं और उन विषयों से सांसारिक वस्तुओं की प्राप्ति का उपाय बताया जाता है। संसार की विभूति लौकिक विषयों से मिल सकती है, किन्तु पारमार्थिक सम्पदा या परमतत्त्व की उपलब्धि का उपाय केवल “आगम” में ही वर्णित रहता है। आगमवाणी परमार्थविधायिनी होती है।

भगवान् महावीर की मूल वाणी की परम्परा आज दो रूपों में उपलब्ध होती है। एक परम्परा के अनुसार तीर्थङ्कर महावीर ने जो उपदेश दिया था, वह निरक्षरी वाणी के रूप में था। “निरक्षरी” का अर्थ “अक्षरों” से रहित नहीं, किन्तु खण्ड-खण्ड रहित अखण्ड धाराप्रवाह के रूप में उनकी दिव्यध्वनि निःसृत हुई थी। ओङ्कार ध्वनि के साथ प्रवाहित होने वाली भगवान् महावीर की वाणी को दिव्यध्वनि कहते हैं। दिव्यध्वनि की विशेषता यह है कि एक रूपा होने पर भी वह सर्व भाषारूप परिणामनशील थी। आचार्य जिनसेन ने उसे अक्षररूप माना है।³ वास्तव में जिस प्रकार हारमोनियम की संगीतात्मक वर्ण-माला से सभी प्रकार के रागों में गीत-ध्वनियाँ निःसृत होती हैं, उसी प्रकार से भगवान् महावीर द्वारा उच्चरित ध्वनियाँ अपने-अपने परिणामन के अनुसार सबके लिए बोध्य थीं। उनका उपदेश अर्द्ध-भाषा में हुआ था।⁴ भगवान् महावीर के उपदेशों को सुनकर उनके गणधरों ने जो ग्रन्थ रचे हैं, उन्हें ‘श्रुत’ कहते हैं। भगवान् महावीर के उपदेशों को श्रीमुख से सुनकर गणधरों ने ग्रंथों के रूप में ग्रथन किया, गणधरों से उनके शिष्यों ने और शिष्यों से प्रशिष्यों ने श्रवण किया। इस प्रकार श्रवण द्वारा प्रवर्तित होने के कारण उसे श्रुत कहा जाता है।⁵ श्रुत के अन्तिम उत्तराधिकारी श्रुतकेवली भद्रबाहु कहे गए हैं। भगवान् महावीर के मूल संघ में आम्नाय रूप से चार संघ प्रसिद्ध थे।⁶ सिंहसंघ, नन्दिसंघ, सेनसंघ और देवसंघ। इस संघ में भगवान् महावीर के निर्वाण-प्राप्ति के अनन्तर गौतम गणधर, सुधर्माचार्य और जम्बूस्वामी हुए। पश्चात् पाँच श्रुतकेवलियों में से प्रथम विष्णुकुमार,

नन्दमित्र, अपराजित, गोवर्धन और अन्तिम भद्रबाहु हुए। नन्दसंघ की इस प्राकृत-पट्टावली के अनुसार वीर-निर्माण सं. १३३ में भद्रबाहु का जन्म हुआ था। उनतीस वर्षों तक वे जीवित रहे। इस समय तक दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों परम्पराएँ एक रहीं, कहा जाता है। श्वेताम्बर-परम्परा के अनुसार भद्रबाहु स्वामी वी. नि. सं. १७० में कालधर्म को प्राप्त हुए थे। सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्रजी ने वह समय १६० वर्षों का माना है। जैन साहित्य में भद्रबाहु नाम के दो आचार्यों का उल्लेख मिलता है। द्वितीय भद्रबाहु का समय ई० पू० ५३ कहा जाता है।

द्वितीय परम्परा के अनुसार भद्रबाहु स्वामी के अनन्तर स्थूलभद्र हुए। उन्होंने सम्राट् चन्द्रगुप्त को जैनधर्म का उपासक बनाया था। वी० नि० सं० २१५ में उनका देहान्त हुआ था। आचार्य स्थूलभद्र से श्वेताम्बर परम्परा आरम्भ होती है। इसके पूर्व तक की स्थिति के सम्बन्ध में भी विभिन्न प्रकार की कथाएँ वर्णित मिलती हैं, जो अपनी-अपनी परम्परा को प्राचीन या प्रभावकारी बताने के लिए अंकित की गई हैं। किन्तु इन सभी विवरणों से यह भी स्पष्ट है कि ईसा पूर्व ३०० के लगभग संघभेद हुआ होगा। भगवान् महावीर की वाणी का सम्बन्ध संघभेद के उद्गम के साथ जुड़ा हुआ है। इस सम्बन्ध में कुछ लिखा जा चुका है।

मूलवाणी का रूप

भगवान् महावीर की मूलवाणी का क्या रूप रहा होगा, यह आज बताना बहुत कठिन है। क्योंकि दावेदार जिसे भगवान् महावीर की वाणी कहते हैं, वह मूल में अक्षरशः भगवान् महावीर द्वारा उच्चरित नहीं है और न तीर्थङ्कर महावीर ने किसी आगम-ग्रन्थ की रचना की थी। फिर भी, आगमों की वाणी को महावीर की वाणी के रूप में मान्यता दी गई है। वह केवल इसलिए है कि तीर्थङ्कर महावीर ने अपनी देशना में तत्त्व का जो स्वरूप जन-सामान्य को समझाया था, कालान्तर में वह संकलित होकर आगम के रूप में प्रसिद्ध हो गया। आगम में भगवान् महावीर की वाणी का सार अवश्य है, इसलिए यदि उसे उनकी वाणी माना जाता है, तो वह पारम्परिक है। उनकी परम्परा को सुरक्षित बनाए रखने में ही भगवान् महावीर की वाणी का औचित्य है। इसलिए आगम ग्रन्थों की वाणी को 'महावीर-वाणी' कहा जाता है।

यदि हम तथाकथित आगम ग्रन्थों को भगवान् महावीर की अक्षरशः मूलवाणी मान लें, तो यह निश्चित है कि स्वयं भगवान् ने आगमों को लिपिबद्ध नहीं किया था। और जब उनकी लिपी में वे निबद्ध नहीं हुए, तो ज्यों के त्यों हमारे पास तक कैसे आए, यह एक बहुत बड़ा प्रश्न उपस्थित हो जाता है। फिर, इन आगमों का संकलनकर्ता कोई अवश्य ही भगवान् महावीर से भिन्न रहा होगा। गौतम गणधर जो कि भगवान् महावीर की देशना के सब से बड़े भाष्यकार थे, स्वयं लिपिबद्धकर्ता नहीं थे। अतएव ऐसी स्थिति में अखि मूंद कर यह मान लेने से कि यह भगवान् महावीर की शब्दशः वाणी है, एक बहुत बड़ा छल होगा। जैन साहित्य के अन्वेषी विद्वान् अग्ररचन्द नाहटा का स्पष्ट कथन है : 'जैन परम्परा के अनुसार जैन आगम ग्रन्थ भगवान् महावीर के ५८० वें वर्ष में सर्वप्रथम वल्लभी में

देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण ने लिपिबद्ध किए अर्थात् इतने लम्बे समय तक उन्हें कण्ठस्थ ही रखा जाता रहा और उनका परिणाम भी जो बतलाया गया है, वह वर्तमान में प्राप्त ग्रन्थों की अपेक्षा बहुत ही अधिक था।^{१०} 'उनके मूल रूप में लिपि-बद्ध न होने के कारण दिग. जैन प्रारम्भ से ही उन्हें नहीं मानते थे।' उनका यह कथन महत्वपूर्ण है कि जिसमें परस्पर विरोधी तथा प्रत्यक्ष एवम् अनुमान प्रमाण से बाधित कथन पाया जाता है, वह आगम प्रामाणिक नहीं है। डॉ. हीरालाल जैन के शब्दों में "दिगम्बर परम्परानुसार उक्त समस्त अंग साहित्य (बारह अंगों में ग्रथित) क्रमशः अपने मूल रूप में विलुप्त हो गया। महावीर-निर्वाण के पश्चात् १६२ वर्षों में हुए आठ मुनियों को ही इन अंगों का सम्पूर्ण ज्ञान था। इनमें अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु कहे गए हैं। तत्पश्चात् क्रमशः सभी अंगों और पूर्वों के ज्ञान में उत्तरोत्तर ह्रास होता गया और निर्वाण से सातवीं शती में ऐसी अवस्था उत्पन्न हो गयी कि केवल कुछ महामुनियों को ही इन अंगों व पूर्वों का आंशिक ज्ञान मात्र शेष रहा, जिसके आधार से समस्त जैन शास्त्रों व पुराणों की स्वतन्त्र रूप से नई शैली में विभिन्न देश-कालानुसार प्रचलित प्राकृतादि भाषाओं में रचना की गयी।"^{११} यथार्थ में वेदों को यथा-वस्थित सुरक्षित रखने के लिए क्रमपाठ, धनपाठ और जटापाठ आदि की जो व्यवस्था की गयी, उसके कारण ही वे हजारों वर्षों तक मौखिक रूप में प्रचलित रहने पर भी यथास्थित बने रहे। किन्तु जैनागमों को यथावस्थित बनाए रखने के लिए ऐसा कोई उपाय नहीं किया गया। फिर, मगध के बारह वर्ष के दुर्भिक्ष के कारण बहुत-सा अंग-ज्ञान विलुप्त हो गया। आज अंगों के रूप में जो अंगधारी साहित्य उपलब्ध होता है, वह पुनरुद्धारण मात्र है। उसमें कहाँ-कहाँ कितना परिवर्तन हुआ और कितना अवशिष्ट रहा, पूर्वा पर क्या था, इसकी प्रामाणिकता में सचमुच सन्देह और अविश्वास का जन्म होना स्वाभाविक था। क्योंकि अपने समग्र रूप में वह उपलब्ध नहीं है, यह सुनिश्चित है। उन अंगों में क्या-क्या विषय निबद्ध था, यह दिगम्बर व श्वेताम्बर दोनों साहित्य में भलीभाँति उल्लिखित है। दिगम्बर साहित्य में द्वादशांगों में से प्रत्येक अंग के पदों तक का उल्लेख मिलता है। उपलब्ध अंगों की संख्या ग्यारह बतायी जाती है। श्वेताम्बर-परम्परा के अनुसार वीर-निर्वाण की दसवीं शती में गुजरात प्रदेश के वल्लभी नगर में, आज के वाला नगर में साधु-सम्मेलन में क्षमाश्रमण देवर्द्धिगणि की अध्यक्षता में जो वाचना की गयी थी, उनमें ग्यारह अंगों का संकलन किया गया था।^{१२} मुनिश्री नथमलजी के शब्दों में द्वादशांगी का स्वरूप सभी तीर्थंकरों के समक्ष नियत होता है। अनखंप्रविष्ट नियत नहीं होता। अभी जो एकादश अंग उपलब्ध हैं, वे सुधर्मा गणधर की वाचना के हैं, इसलिए सुधर्मा द्वारा रचित माने जाते हैं।^{१३}

जैनागमों की भाषा

यह पहले ही बताया जा चुका है कि जैनागम दो शाखाओं में विभक्त हैं--दिगम्बर और श्वेताम्बर। श्वेताम्बर अपने आगमों की भाषा भगवान् महावीर के मुख से विनिर्गत मानते हैं, इसलिए सर्वप्रथम उनका विचार किया जाता है। यह पं. हरगोविन्ददास सेठ ने भी स्वीकार किया है कि जैनागम कथ्य भाषा में रचे गए थे और कथ्य भाषा में समय परिवर्तन के साथ उच्चारण-भेद तथा देश्य शब्दों आदि के प्रयोग-भेद से आगमों में

भाषा-परिवर्तन होना स्वभाविक था। इसके अतिरिक्त भाषा-परिवर्तन का यह भी एक मुख्य कारण माना जा सकता है कि भ. महावीर के निर्वाण के लगभग दो सौ वर्ष उपरान्त ई. पू. ३१० में चन्द्रगुप्त मौर्य के राज्यकाल में मगधदेश में बारह वर्षों का सुदीर्घ अकाल पड़ने पर साधुजनों का अपनी चर्यावृत्ति के लिए दक्षिण प्रान्त में समुद्रतीरवर्ती क्षेत्र में विहार करना था।^{११} यह सुनिश्चित है कि जैनागमों की भाषा प्राकृत है और प्राकृत हजारों वर्षों तक इम देश की बोल-चाल की भाषा रही है। प्राकृत बोली रही है और संस्कृत भाषा। बोली और भाषा को समझने में प्रायः भ्रम बना रहा है। लोग बोली को 'ग्राम्य भाषा' या 'गँवारू भाषा' समझते रहे हैं। अधिकतर शिक्षित तथा शिष्ट जनता बोली को भाषा का बिगड़ा हुआ या भ्रष्ट रूप मानती है। परन्तु ऐतिहासिक विकास के अध्ययन से यह निश्चित हो जाता है कि बोली भाषा का बिगड़ा हुआ रूप नहीं है। आधुनिक भाषा वैज्ञानिक अध्ययन से यह प्रकट हो चुका है कि बोलियाँ ही कालान्तर में साहित्य पद पर आरूढ़ हुई हैं। यह केवल अंग्रेजी बोलियों के सम्बन्ध में ही तथ्य नहीं है, वरन् विश्व के इतिहास में यह प्रक्रिया घटित हो चुकी है। यही प्रक्रिया संस्कृत के सम्बन्ध में भी लक्षित हुई। जब संस्कृत एक पूर्ण साहित्यिक तथा पूर्ण भाषा बनी, तब प्राकृत बोलियाँ थीं। कालान्तर में प्राकृतों में भी साहित्य लिखा गया।^{१२} वास्तविकता सहज रूप में बोली के माध्यम से निःसृत होती है। अतएव आंचलिक वातावरण के चित्रण में क्षेत्रीय बोली का प्रयोग करना आवश्यक हो जाता है। यही स्थिति संस्कृतकाल में प्राकृत की थी। भारतीय इतिहास के गुप्त-युग में राजदरबारों में प्राकृत नाटिकाओं, सट्टकों के अभिनय के साथ जब संस्कृत नाटकों के अभिनय भी किए जाने लगे, तब संस्कृत नाटकों में प्राकृत का समावेश अनिवार्य हो गया। क्योंकि सामान्य वर्ग के लोग प्राकृत ही बोलते-समझते थे। इसके लिए वैयाकरणों को विशेष प्रयत्न करने पड़े। यथार्थ में उस युग के संस्कृत वैयाकरणों को संस्कृत भाषा को प्राकृत में ढालने के लिए विशेष नियम बनाने पड़े। इस कारण प्राकृत शब्दावली में तोड़-मरोड़ भी हुई और आगे चल कर वे प्राकृत-अभ्रपश कहलाई जो वास्तव में बोली थीं।^{१३} इन प्राचीन भारतीय आर्यभाषाओं के अध्ययन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि जब तक संस्कृत या वैदिक भाषा लोक-जीवन और लोक-बोलियों को आत्मसात् करती रही, तब तक बराबर उसमें विकास होता रहा; किन्तु जब वह शास्त्रीय नियमों में भलीभाँति आबद्ध हो गई, तभी उसका विकास रुक गया। इससे जहाँ वह वाणी 'अमर' हो गई, वहीं उसका प्रवाह अवरुद्ध हो गया और वह 'मृतभाषा' के नाम से अभिहित की गई। यथार्थ में संस्कृत को अमरत्व रूप महर्षि पाणिनि ने प्रदान किया। उनके पूर्व की संस्कृत भाषा के व्याकरणिक रूपों में अत्यन्त विविधता थी। डॉ. पुसालकर का कथन है कि भारतीय पुराणों की भाषा विषयक अनियमितताओं को देखते हुए यह लक्षित किया गया है कि जन बोलियों से प्रभावापन्न संस्कृत के ये पुराण आद्ये के लगभग प्राकृतत्व को लिए हुए हैं। इससे यही समझा जाता है कि मौलिक रूप में ये पुराण प्राकृत में लिखे गये थे, जिन्हें हठात् संस्कृत में अनूदित किया गया। प्राकृतिक प्रवृत्ति का प्रभाव वैदिक ग्रन्थों तक में प्राप्त होता है। परवर्तीकाल में सहज रूप से प्राकृतों का प्रभाव धार्मिक ग्रन्थों, महाकाव्यों और पुराणों पर भी लक्षित होता है।^{१४}

प्राचीनतम भाषा

लिखित भाषा के रूप में संसार का प्राचीनतम प्रमाण ऋग्वेद है। यद्यपि प्राचीन पाठ-परम्परा के अनुवर्तन से वेदों के मूल रूप का रक्षण होता रहा है, किन्तु भाषा-वैज्ञानिक यह मानते हैं कि ऋग्वेद की रचना किसी एक समय में और एक व्यक्ति के द्वारा न होकर विभिन्न युगों में संकलित हुई है। वैदिक रचनाएँ पुरोहित-साहित्य है। “ऋग्वेद रिपीटा-शन्स” में ब्लूमफील्ड ने स्पष्ट रूप से बताया है कि ऋग्वेद में लगभग एक चौथाई से भी अधिक पाद-पुनरावर्तन हुआ है। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल और दशम मण्डल की भाषा में भी अन्तर लक्षित होता है। ऐतिहासिक दृष्टि से ऋग्वेद की रचना एवम् संकलना का समय १२०० ई. पू. १००० ई. पू.—के लगभग माना जाता है। इस काल से साहित्यिक परम्परा सतत एवम् अविच्छिन्न रही है और भारतीय आर्यभाषा का क्रमिक विकास विभिन्न अवस्थाओं में विविध रूपों में समाहित होकर विस्तृत हुआ है।^{१५} टी. बरो के अनुसार ऋग्वेद १००० ई. पू. के लगभग और अवेस्ता ६०० ई. पू. के लगभग की रचनाएँ हैं। ईरानी भाषा की प्राचीन स्थिति का प्रतिनिधित्व अवेस्ता तथा प्राचीन फारसी साहित्य के द्वारा किया जाता है, और ये ही ग्रन्थ वैदिक संस्कृत की तुलना की दृष्टि से अत्यधिक महत्व के हैं। जरथुस्त्रीय धर्म के मतानुसार अवेस्ता उनके द्वारा सुरक्षित पवित्र लेखों का प्राचीन संग्रह है, और इसके आधार पर वह भाषा भी अवेस्ता (भाषा) कहलाती है। यह कोरास्मिया प्रदेश में प्रचलित पूर्वी ईरानी विभाषा जान पड़ती है।^{१६} भारतीय आर्यों की पश्चिमी बोलियाँ कुछ विषयों में ईरानी से साम्य रखती थीं। प्रो० एन्त्वान् मेय्ये ने ऋग्वेद की साहित्यिक भाषा का मूल सीमान्त प्रदेश की एक पश्चिमी बोली को ही निर्दिष्ट किया है। पश्चिम की इस बोली में ‘ल’ न होकर केवल ‘र’ था। किन्तु संस्कृत और पालि में ‘र’ और ‘ल’ दोनों थे। तीसरी में ‘र’ न होकर केवल ‘ल’ ही था, जो सम्भवतः सुदूरपूर्व की बोली थी। इस पूर्वी बोली की पहुँच आर्यों के प्रसार तथा भाषा विषयक विकास के द्वितीय युग के पहले-पहल ही आधुनिक पूर्वी-उत्तर प्रदेश और बिहार के प्रदेशों तक हो गई थी। यही पूर्वी प्राकृत तथा उत्तरकालीन मागधी प्राकृत बनी।^{१७} इसमें ‘र’ न होकर केवल ‘ल’ था। वस्तुतः एक ही युग की ये तीन तरह की बोलियाँ थीं, जो परवर्ती काल में विभिन्न रूपों में परिवर्तित होती रहीं। आगे चलकर विभिन्नजातियों के सम्पर्क के कारण इनमें अनेक प्रकार के मिश्रण भी हुए। असीरी बाबिलोनी से आगत वैदिक भाषा में कई शब्द मिलते हैं।^{१८} जहाँ तक फिन्नो-उग्री के साथ प्राचीन भारत-ईरानी के सम्पर्क का सम्बन्ध है, इस सम्बन्ध में अधिक प्रमाण उपलब्ध हैं तथा उनका विश्लेषण करना अधिक सरल है। भारत-ईरानी काल के पूर्व भी भारोपीय तथा फिन्नो-उग्री में सम्पर्क होने के प्रमाण मिलते हैं। इन भाषाओं में शब्दों का आदान-प्रदान दोनों दिशाओं में रहा होगा।^{१९}

वैदिक, अवेस्ता और प्राकृत

वैदिक काल से ही स्पष्ट रूप से भाषागत दो धाराएँ परिलक्षित होती हैं। इनमें से प्रथम “छान्दस्” या साहित्य की भाषा थी और दूसरी जनवाणी या लोकभाषा थी। इसके स्पष्ट प्रमाण हमें अवेस्ता, निय प्राकृत तथा सर्वप्राचीन शिलालेखों की भाषा में

उपलब्ध होते हैं। पालि-साहित्य की भाषा के अध्ययन से भी यह निश्चित हो जाता है कि उस समय तक कुछ ही भाषाएँ तथा भाषागत रूप परिभाषित हो सके थे। उस समय की विविध बोलियाँ अपरिष्कृत दशा में ही थीं। ऋग्वेद में विभिन्न प्राकृत बोलियों के लक्षण मिलते हैं। उदाहरण के लिए, प्राकृत बोलियों में प्रारम्भ से ही 'ऋ' वर्ण नहीं था। अतएव संस्कृत-व्याकरण की रचना को देखकर जब प्राकृत-व्याकरण का विधान किया गया, तब यह कहा गया कि संस्कृत 'ऋ' के स्थान पर प्राकृत भाषा में 'अ', 'इ' या 'उ' आदेश हो जाता है। यह आदेश शब्द ही बताता है कि प्राकृत बोलियाँ किस प्रकार साहित्य में ढल रही थीं। व्याकरण बनने के पूर्व की भाषा और बोली में परवर्ती भाषा और बोली से अत्यन्त भिन्नता लक्षित होती है। वेदों की कई ऋचाओं में 'कृत' के लिए 'कड', 'वृत' के लिए 'वुड' तथा 'मृत' के लिए 'मड' शब्द प्रयुक्त मिलते हैं। "पाइअ-सद्-महणवो" की भूमिका में ऐसे तेरह विशिष्ट लक्षणों का विवेचन किया गया है, जिनसे वैदिक और प्राकृत भाषा में साम्य परिलक्षित होता है। वैदिक और प्राकृत भाषा में कुछ ऐसी समान प्रवृत्तियाँ मिलती हैं, जो लौकिक संस्कृत में प्राप्त नहीं होती। श्री बी. जे. चोकसी ने इन दोनों में कई समान प्रवृत्तियों का निर्देश किया है।^{१०} वेदों की भाँति अवेस्ता की भाषा और प्राकृतों में कुछ सामान्य प्रवृत्तियाँ समान रूप से पाई जाती हैं। संस्कृत का अन्य 'अस्' अवेस्ता में 'ओ' देखा जाता है; यथा : अईयो, अउरुषो, इथ्येजो, गरमो, हमो, यो, नो, ह्योमो, दूरओषो, मय्यो, यिमो, पुओ, आदि।

२. अवेस्ता, प्राकृत और अपभ्रंश में स्वर के पश्चात् स्वर का प्रयोग प्रचलित रहा है। किन्तु वैदिक और संस्कृत में एक साथ दो स्वरों का प्रयोग नहीं मिलता। अवेस्ता के कुछ शब्द हैं : अएइती, अउरुन, अएम्, आअत्, अइ आदि। प्राकृत-अपभ्रंश में इस प्रकार के शब्द हैं : आइअ, ओइ, एउ, उइन्, दइउ, संजोइउ, पलोइउ, आइउ, अइ, अइरा, आइद्ध, आउ, आएस, आइच्च इत्यादि।

३. अवेस्ता में एक ही शब्द कई रूपों में मिलता है; यथा : आयु, अयु; हमो, हामो; हुतश्तम्, हुताश्तम्; अद्धानम्, अद्धनम्; य, यो इत्यादि। अपभ्रंश में भी कुच्छर-कोच्छर; कुड्ड-कोड्ड, कुमर-कुम्बर, गिरवक-गिरिवक-गिरुवक, तिगिच्छ-तिगिच्छि-तिगिच्छि, गिण्डल-गिण्डाल, ढक-ढंख, भिंदु-भेंदु, भेंदुलिय-भेंदुलिय, भुंबुक्क-भुमुक्क-भुंभुक्क, जोव-जोअ-जोय, भंप-भपा, आदि वैकल्पिक शब्द-रूप प्रचुरता से मिलते हैं। प्राकृत में भी इस तरह के शब्द-रूप विपुल मात्रा में मिलते हैं।

४. ल्हेमन ने प्राग्भारोपीय ध्वनि-प्रक्रिया का विचार करते हुए निर्दिष्ट किया है कि व्यतिरेकी ध्वनिप्रक्रियात्मक प्रामाणिक स्रोतों का निश्चय करने में एक आक्षरिक अपिश्रुति भी है। सामान्य रूप से स्वर-ध्वनि के परिवर्तन को अपिश्रुति कहते हैं। अपिश्रुति मात्रिक और गुणीय दोनों प्रकार की कही गई है। प्राग्भारोपीय ध्वनि-प्रक्रिया में एक पद ग्राम में विविध स्वर ध्वनि ग्रामों में परिवर्तन सभी भारोपीय बोलियों में लक्षित होते हैं और यही कारण है कि वे बोलियाँ भारोपीय भाषा की मूल स्रोत हैं।^{११}

५. अशोक के शिलालेखों तथा पालि ग्रन्थों के मूल ग्रंथों में 'ऋ' और 'लृ' स्वर उपलब्ध नहीं होते। वैदिककालीन बोलियों की विकसित अवस्था में घोष भाव की प्रक्रिया का पता भी यहीं से लगता है। अवेस्ता में कहीं-कहीं 'ऋ' के स्थान पर 'र' दिखलाई पड़ता है; यथा : रतूम, गरमम् दरगम् आदि। इसका कारण स्वरभक्ति कहा जाता है। स्वरभक्ति पालि, प्राकृत और अपभ्रंश में भी पाई जाती है।

टी. बरो के अनुसार ईरानी में भारत-यूरोपीय र्, लृ बिना किसी भेद के र् के रूप में मिलते हैं। ऋग्वेद की भाषा में भी मुख्यतः यही स्थिति है। किन्तु वास्तविकता यही है कि ईरानी, वैदिक, संस्कृत और पालि-प्राकृत में लृ और र् दोनों मिलते हैं। ऋग्वेद की भाषा में 'र्' की मुख्यता होने का कारण यही कहा जा सकता है कि ऋग्वैदिक बोली का मूलाधार उत्तर-पश्चिमी प्रदेश में था, जब कि शास्त्रीय भाषा मध्य देश में बनी थी। इन दोनों का मूल विभाजन इस तरह का रहा होगा कि पश्चिमी विभाषा में र् ठीक उसी तरह लृ हो जाता होगा, जिस तरह ईरानी में (क्योंकि यह ईरानी के पास थी और साथ ही सम्भवतः परवर्ती प्रसार की धारा का प्रतिनिधित्व करती थी) जब कि अधिक पूर्वी विभाषा मूल भेद को सुरक्षित रखे थी।^{१२} सभी प्राकृत भाषाएँ सामान्य रूप से व्याकरणिक तथा कोशीय प्रवृत्तियों में वैदिक भाषा की श्रेणी में हैं जिनमें प्राप्त होने वाली विशेषताएँ संस्कृत में नहीं मिलतीं। अतएव प्राकृत भाषाओं की जो अन्विति मध्ययुगीन तथा नव्य भारतीय अर्थ बोलियों से हैं उससे कम किसी प्रकार वैदिक से नहीं है।^{१३} इस प्रकार अवेस्ता, वैदिक और प्राकृत भाषाओं में कुछ बातों में साम्य परिलक्षित होता है, जिससे इन भाषाओं में एक अन्विति तथा एकरूपता भलीभाँति जान पड़ती है।

प्राकृत और उसका इतिहास

तीर्थंकर महावीर के युग में ई पू ६,०० के लगभग १८ महाभाषाएँ और ७,०० लघु भाषाएँ (बोलियाँ) प्रचलित थीं। उनमें से जैन साहित्य में प्रादेशिक भेदों के आधार पर आवश्यक, औपपातिक, विपाक, ज्ञातृधर्मकथांग, राजप्रश्नीय आदि आगमग्रन्थों तथा 'कुवलयमालाकहा' एवम् अन्य काव्यग्रन्थों में अठारह प्रकार की प्राकृत बोलियों का उल्लेख मिलता है। निशीथचूर्णि में अठारह देशी भाषाओं से नियत भाषा को अर्द्धमागधी कहा गया है।^{१४} उद्योतनसूरी ने "कुवलयमालाकहा" में विस्तार के साथ गोल्ल, मगध, अनाबेदि, कीर, ढक्क, सिन्धु, मरु, गुर्जर, लाट, मालवा, काठिक, ताजिक, कोशल और महाराष्ट्र प्रभृति अठारह देशी भाषाओं का विवरण दिया है, जो कई दृष्टियों से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। वेदों, स्मृतियों एवम् पौराणिक साहित्य में अनेक स्थानों पर कहा गया है कि लोक में कई बोलियाँ बोली जाती हैं।^{१५} शिष्य के अनुरूप ही गुरु को संस्कृत, प्राकृत तथा देशी भाषा आदि का शिक्षण देना चाहिए।^{१६} "स्वभावसिद्ध" के अर्थ में "प्राकृत" शब्द का उल्लेख श्रीमद्भागवत तथा लिंगपुराण आदि पुराणों में लक्षित होता है।^{१७} भरत कृत "गीतालङ्कार" में सबसे अधिक ४२ भाषाओं का उल्लेख मिलता है। इनके नाम हैं : महाराष्ट्री, किराती, म्लेच्छी, सोमकी, चोलकी, काँची, मालवी, काशिसंधवा, देविका, कुशावर्ता, सुरसेनिका, वांधी, गुर्जरी, रोमकी, कानमूसी, देवकी, पंचपत्तना, सैन्धवी, कौशिकी, भद्रा, भद्र-

भोजिका, कुन्तला, कोशला, पारा, यावनी, कुर्कुरी, मध्यदेशी तथा काम्बोजी, प्रभृति । ये बयालीस प्रसिद्ध बोलियाँ थीं जिनमें गीत लिखे जाते थे । किसी युग में गीतों का विशेष प्रचलन था । आचार्य भरत मुनि के समय में प्राकृत के गीत प्रशस्त माने जाते थे । उन्होंने ध्रुवा तथा गीतियो एवम् लोकरनाट्य के प्रसंग में विविध विभाषाओं (बोलियों) का वर्णन किया है, जिसमें मागधी गीतियों को प्रथम स्थान दिया गया है ।^{२८}

इन गीतियों के विधान को देखकर और महाकवि कालिदास आदि की रचनाओं में प्रयुक्त गीतियों की बहुलता से यह निश्चय हुए बिना नहीं रहता कि आद्य लोक-साहित्य गीतियों में निबद्ध रहा होगा । मौखिक रूप में गीतियों का प्रचलन सहज तथा सुकर है ।

‘प्राकृत’ का एक निश्चित भाषा के रूप में विस्तृत विवरण हमें आ. भरत मुनि के ‘नाट्यशास्त्र’ में मिलता है । प्राकृत के सम्बन्ध में उन का विवरण इस प्रकार है :

१. रूपक में आचिक अभिनय के लिए संस्कृत और प्राकृत दोनों पाठ्य लोक प्रचलित हैं । इन दोनों में केवल यही अन्तर है कि संस्कृत संस्कार (संवारी) की गयी भाषा है और प्राकृत संस्कारशून्य अथवा असंस्कृत भाषा है । कुमार, आपिशलि आदि वैयाकरणों के द्वारा जिस भाषा का स्वरूप नियत एवम् स्थिर कर दिया गया है वह ‘संस्कृत’ है, किन्तु जो अनगढ़, देशी शब्दों से भरित एवम् परिवर्तनशील है वह ‘प्राकृत’ है ।

इससे यह भी पता लगता है कि वास्तव में भाषा का प्रवाह एक ही था, किन्तु समय की धारा में होने वाले परिवर्तनों के कारण प्राकृत लोकजीवन का अनुसरण कर रही थी; जबकि संस्कृत व्याकरणिक नियमों से अनुशसित थी । अभिनव गुप्त ने ‘नाट्यशास्त्र’ की विवृति में इसी तथ्य को स्पष्ट किया है ।^{२९}

२. आ. भरतमुनि ने वैदिक शब्दों से भरित भाषा को अतिभाषा, संस्कृत को आर्यभाषा और प्राकृत को जातिभाषा के नाम से अभिहित किया है ।^{३०} जातिभाषा से उनका अभिप्राय जनभाषा से है । बोलियों के रूप में स्पष्ट ही सात तरह की प्राकृतों का निर्देश किया गया है ।^{३१} इन के नाम हैं : मागधी, अवन्तिजा, प्राच्या, शोरसैनी, अर्धमागधी, बाल्हीक और दाक्षिणात्य । वास्तव में बोलियों के ये भेद प्रादेशिक आधार पर किए गए हैं । ‘प्राकृतकल्पतरु’ में भी प्रथम स्तबक में शोरसैनी, द्वितीय स्तबक में प्राच्या, आवन्ती, बाल्हीकी, मागधी, अर्ध-मागधी और दाक्षिणात्या का विवेचन किया गया है । इस विवेचन से यह भी स्पष्ट होता है कि मूल में पश्चिमी और पूर्वी दो प्रकार के भाषा-विभाग थे । बोलियाँ इनसे किंचित् भिन्न थीं । रामशर्म ने विभाषा-विधान नामक तृतीय स्तबक में शाकारिका, चाण्डालिका, शाबरी, आभीरिका, टक्की आदि के लक्षण एवम् स्वरूप का प्रतिपादन किया है । इसी प्रकार तृतीय शाखा में नागर, ब्राह्म और पँशाची अपभ्रंश का विवेचन किया गया है ।

तीर्थकर महावीर और महात्मा गौतमबुद्ध की भाषा के नमूने आज ज्यों के त्यों नहीं मिलते । अशोक के शिलालेखों (२५० ई. पू.), भारतवर्ष के विभिन्न भागों में

प्राप्त प्राकृत के जैन शिलालेखों तथा पालि-साहित्य के कुछ अंशों में प्राकृत के प्राचीनतम रूप निबद्ध हैं। डॉ. चटर्जी ने म. बुद्ध के समय की उदीच्य, मध्यदेशीय तथा प्राच्यविभाग की तीन प्रादेशिक बोलियों का उल्लेख किया है। इनके अतिरिक्त ई. पू. तीसरी शताब्दी की खोतन प्रदेशीय भारतीयों की पश्चिमोत्तरी गान्धारी प्राकृत तथा ईसा की प्रथम शताब्दी के लगभग प्रयुक्त तुर्किस्तान की निय प्राकृत एवम् ई. पू. छठी शताब्दी के मध्य की काठियावाड़ से सीलोन पहुँचायी गयी प्राकृत विशेष रूप से उल्लेखनीय है।^{१३}

इस देश में पूर्व ईसा शताब्दी में मुख्य रूप से भारतीय आर्यबोलियों के चार विभाग प्रसिद्ध थे : (१) उदीच्य (उत्तर-पश्चिमी बोली), (२) प्रतीच्य (दक्षिणी-पश्चिमी बोली), (३) प्राच्य-मध्य (मध्यपूर्वी बोली) और (४) प्राच्य (पूर्वी बोली)। अशोक के शिलालेखों तथा पतंजलि के महाभाष्य के उल्लेखों से भी यह प्रमाणित होता है।^{१३}

अल्डोर्फ के अनुसार भारतीय आर्यभाषा की सब से प्राचीनतम अवस्था वैदिक ऋचाओं में परिलक्षित होती है। कई प्रकार की प्रवृत्तियों तथा भाषागत स्तरों के अनुशीलन से यह स्पष्ट है कि बोली ही विकसित हो कर संस्कृतकाव्यों की भाषा के रूप में प्रयुक्त हुई। अतएव उस में ध्वनि-प्रक्रिया तथा बहुत से शब्द बोलियों के समाविष्ट हो गए हैं। शास्त्रीय संस्कृत का विकासकाल चौथी शताब्दी से लेकर आठवीं शताब्दी तक रहा है। केवल संस्कृत-साहित्य में ही नहीं, वैदिक भाषा में भी बहुत से ऐसे शब्द हैं जो नाश्चित रूप से ध्वनि-प्रक्रियागत परिवर्तनों से सम्बद्ध प्राकृत के प्रभाव को निःसन्देह प्रमाणित करते हैं।^{१४} भौगोलिक दृष्टि से शिक्षा ग्रन्थ में स्वरभक्ति का उच्चारण जिस क्षेत्र में निर्दिष्ट किया गया है, वह अर्धमागधी और अपभ्रंश का क्षेत्र है।^{१५} प्राकृत के प्राचीन प्राच्य वैयाकरणों में शाकल्य, माण्डव्य, कोहल और कपिल का उल्लेख किया गया है। यद्यपि उनकी रचनाएँ अभी तक उपलब्ध नहीं हो सकी हैं, किन्तु मार्कण्डेय ने 'प्राकृतसर्वस्व' में शाकल्य और कोहल के साथ ही भरत, वररुचि, भामह और वसन्तराज का विशेष रूप से उल्लेख किया है। माण्डव्य का रामतर्कवागीश ने और कपिल का रामशर्मा तथा मार्कण्डेय ने नामोल्लेख किया है।^{१६} यद्यपि प्राकृत के प्राच्य शिलालेख कम मिलते हैं, पर प्रवृत्ति-भेद से डॉ. मेहन्दाळे ने दक्षिणी, पश्चिमी, मध्यदेशीय और प्राच्यभेद माने हैं।^{१७} भौगोलिक दृष्टि से इस प्रकार चार भेद प्रवृत्तिगत भिन्नता के कारण अत्यन्त प्राचीनकाल से बराबर आज तक बने हुए हैं। प्राचीन वैयाकरणों ने भी इन भेदों का उल्लेख किया है।^{१८}

भारतीय आर्यभाषाओं के इतिहास को तीन अवस्थाओं में विभक्त करने का एक क्रम प्रचलित हो गया है। वास्तव में ये अवस्थाएँ एक ही भाषा-प्रवाह की तीन विभिन्न युगीनस्थितियाँ हैं जो नाम-रूपों के भेद से अलग-अलग नामों से अभिहित की गयीं। ऐतिहासिक काल-क्रम की दृष्टि से बोलियों की विभिन्न अवस्थाओं का विवेचन करना एक भाषाविद् का कार्य है। डॉ. ए. एम. घाटगे ने क्षेत्रीय भेदों के अनुसार उत्तर-पश्चिम में उपलब्ध अशोक के शिलालेख मानसेहरा और शाहबाजगढ़ी, खरोष्ट्री घम्मपद की प्राकृत

बोली तथा पैशाची और उस की सम्भावित उपबोलियाँ, पूर्व में गंगा और महानदी की तराई में उपलब्ध अशोक के शिलालेख, सतनुक के रामगढ़-शिलालेख तथा नाटकों में प्रयुक्त मागधी प्राकृत और उसके उपविभाग, पश्चिम में गिरनार, बौद्ध-साहित्य की भाषा पालि, सातवाहन तथा पश्चिमीय क्षत्रप राजाओं के शिलालेखों की प्राकृत और महाराष्ट्री प्राकृत, मध्यदेश में शौरसेनी और पूर्व की ओर जैनागमों की अर्धमागधी एवम् तादृश अशोक शिलालेखीय बोली परिलक्षित होती है। किन्तु इस विभाजन में कुछ बोलियाँ छूट जाती हैं। अतएव ऐतिहासिक कालक्रमानुसार किया गया वर्गीकरण अधिक अच्छा और सुनिश्चित है। प्राचीनतम अवस्था में अनेक शिलालेख, पालि, अर्धमागधी और पैशाची की गणना की जाती है। परवर्ती अवस्था में शौरसेनी, मागधी, जैन महाराष्ट्री और जैन शौरसेनी निर्दिष्ट की गयी हैं। अनन्तर उत्तरकालिक विकास में महाराष्ट्री, प्राकृत और विभिन्न अर्धश बोलियाँ आती हैं।^{१९} अशोक के लगभग चौंतीस अभिलेख मिलते हैं। अशोक के शिलालेखों में पैशाची, मागधी और शौरसेनी प्राकृत की प्रवृत्तियाँ लक्षित होती हैं। डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री ने 'अशोककालीन भाषाओं का भाषाशास्त्रीय सर्वेक्षण' शीर्षक लेख में बताया है कि अशोक के समय की पश्चिमोत्तरीय (पैशाच-गान्धार), मध्यभारतीय (मागध), पश्चिमीय (महाराष्ट्र), और दाक्षिणात्य (आन्ध्र-कर्णाटक) बोलियाँ उस समय की जनभाषाएँ हैं।^{२०} पश्चिमोत्तरीय वर्ग की बोली में शाहवाजगढ़ी और मानसेहरा के अभिलेख; मध्यभारतीय बोली में वैराट, दिल्ली-टोपरा, सारनाथ और कलिंगअभिलेख पश्चिमी में गिरनार और बम्बई में सौपारा के अभिलेख एवम् दाक्षिणात्य में दक्षिणी अभिलेख सम्मिलित हैं। पश्चिमोत्तरीय में दीर्घ स्वरों का अभाव, ऊष्म व्यंजनों का प्रयोग, अन्तिम ह्रन्त व्यंजनों का अभाव, रेफ का प्रयोग एवम् प्रथमा विभक्ति एक वचन में एकारान्त शब्दों का अस्तित्व पाया जाता है। मध्यभारतीय बोली में 'र्' के स्थान पर 'ल्', प्रथमा एक वचन में—एकारान्त रूप का सद्भाव, स्वरभक्ति का अस्तित्व, 'अह्' के स्थान पर 'हक' का प्रयोग, 'तु' के स्थान पर 'तवे', 'तुम्हाण' अथवा 'तुज्भाण' के स्थान पर 'तुफाक' एवम् 'क्' घातु के 'क्ता' के स्थान पर 'ट' का प्रयोग पाया जाता है। पश्चिमीय बोली में 'र' का प्रयोग, अधोवर्ती रेफ का शीर्षवर्ती रेफ के रूप में प्रयोग, न्य और ज्च के स्थान पर 'ज' तथा 'ट' में परिवर्तन, प्रथमा एक वचन में आकारान्त रूप, 'ड्' के स्थान पर 'ड्ठ' एवम् सप्तमी विभक्ति के एक वचन में 'डिम' के स्थान पर 'मिह' का प्रयोग पाया जाता है। दाक्षिणात्य बोली में मूर्द्धन्य 'ण्' का प्रयोग, तालव्य 'ज्' का प्रयोग, स्वरभक्ति की प्राप्ति, 'त्म' के स्थान पर 'त्य' ऊष्म वर्णों का दन्त्य वर्ण के रूप में प्रयोग एवम् 'तु' के स्थान पर 'तवे' का प्रयोग मिलता है।^{२१} अशोक के शिलालेखों के अतिरिक्त दो अन्य प्राकृत अभिलेख भी उल्लेखनीय हैं। ये हैं—कलिंगराज खारबेल का हाथीगुप्फा अभिलेख और यवन राजदूत हिलियोदोरस का बैसनगर अभिलेख। इन अभिलेखों में प्राचीन भारतीय आर्यभाषा से परिवर्तन की प्रवृत्तियाँ स्पष्ट लक्षित होती हैं।

ई. पू. १,००० से ६,०० वर्षों का काल भारतीय आर्यभाषा का संक्रान्तिकाल कहा जा सकता है। विभिन्न आर्य तथा आर्योंतर प्रजाओं के सम्पर्क से इस दीर्घकाल की अवधि में एक ऐसा भाषा-प्रवाह लक्षित होने लगा था, जिस में विभिन्न जातियों तथा

भाषाओं के आगत शब्द आर्य बोलियों में समाहित हो गए थे और आर्यभाषा में एक नया परिवर्तन लक्षित होने लगा था। अतएव वैयाकरणों और दार्शनिकों ने आर्यभाषा की साधुता की ओर लक्ष्य दिया। भाषाविषयक परिवर्तन के वेग को अवरुद्ध करने के लिए वैयाकरणों ने दो महान् कार्य किये। प्रथम प्रयत्न में उन्होंने गणों की व्यवस्था की। महर्षि पाणिनि ने 'पृषोदरादि' गणों की सृष्टि कर शब्द-सिद्धि का एक नया मार्ग ही उन्मुक्त कर दिया। दूसरे प्रयत्न में स्वाथिक प्रत्यय का विधान कर देशी प्रथा म्लेच्छ भाषाओं से शब्दों को उधार लेकर अपनाने की तथा रचाने-पचाने की एक नई रीति को ही जन्म दिया। इन दोनों ही कार्यों से संस्कृत का शब्द-भाण्डार विशाल हो गया और भाषा स्थिर तथा निश्चित हो गयी। सम्भवतः इसी ओर लक्ष्य कर मीमांसादर्शन में शबरमुनि कहते हैं कि जिन शब्दों को आर्य लोग किसी अर्थ में प्रयोग नहीं करते, किन्तु म्लेच्छ लोग करते हैं; यथा : पिक, नेम, सत, तामरस, आदि शब्दों में सन्देह है।^{५२} ऋग्वेद में प्रयुक्त कई शब्द मुण्डा भाषा के माने जाते हैं। उदाहरण के लिए कुछ शब्द हैं :

(१) कपोत—दुर्भाग्य दायक (ऋग्वेद १०, १६५, १), लांगल—हल (ऋग्वेद), वार—घोड़े की पूँछ (ऋग्वेद १, ३२, १२), मयूर (ऋग्वेद १, १९१, १४), शिम्बल—सेमल पुष्प (ऋग्वेद ३, ५३, २२) इत्यादि।

इस अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि संस्कृत के अध्ययन के लिए प्राकृत का अध्ययन भी किसी स्थिति तक आवश्यक है। क्योंकि मूल में ये दोनों ही एक ही भाषा के दो रूप हैं, जो युग-प्रवाह में सहस्रों वर्षों के अन्तराल में विभिन्न नाम-रूपों को प्राप्त कर विविध नामों से प्रचलित रहे। प्राकृत भाषा का और विशेषकर आगमों की आर्य प्राकृतों का जो कि महाराष्ट्री और मागधी में रचित कहे जाते हैं, अभी तक इनका सर्वांगीण अध्ययन नहीं हो पाया है। बुन्देलखण्डी भाषा में सहस्रों ऐसे शब्द हैं जो व्युत्पत्ति की दृष्टि से प्राकृतों से सम्बद्ध हैं। उदाहरण के लिए कुछ शब्द हैं : उसीसो (गुजराती ओसीसा) प्राकृत के ऊसय शब्द से निर्गत है। इसी प्रकार प्राकृत के ओसरिआ शब्द से बुन्देली उसारी विकसित हुआ है। देशीनाममाला (१, १४०) में इसके लिए 'ऊसारो' शब्द मिलता है। इसी प्रकार कदुआ (कुम्हड़ा) प्राकृत के कदुइया, खटीक प्राकृत के खट्टिक, चुटैया प्राकृत के चौट्टिया, छुई प्राकृत के छुरिया, भुरैया प्राकृत के भूर, जडु प्राकृत के जडु, भख प्राकृत के भख, टाँक प्राकृत के टंका, निराट प्राकृत के निराय, ठट्ठ, प्राकृत के थट्ट, दारी प्राकृत के दारिया, रक्सा प्राकृत के करीस एवम् खडु प्राकृत के खडु से निःसृत हैं। बुन्देली के ही कंची प्राकृत के कंची, खदरा प्राकृत के खड्डा, खतना प्राकृत के खत्त, खिल्ली प्राकृत के खिल्लिअ, गडबड प्राकृत के गडड-बडड, घाम प्राकृत के घम्म, भामर प्राकृत के भामर, डुकरिया प्राकृत के डोक्करी, तिड्डा प्राकृत के तेडु, थई प्राकृत के थइया, पगल प्राकृत के पगल और बिथार प्राकृत के विश्रालिउ आदि शब्दों से विकसित हैं।^{५३} इनके अतिरिक्त बुन्देली में छुहारा को खारक कहते हैं, जो प्राकृत खरिक्क शब्द से निःसृत है। पशु के लिए ढोर शब्द आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओंका प्रचलित शब्द है, जो मूल में प्राकृत का है। हिन्दी के लूला, घुंघरू, ढाक, समोसा, लूट, लुटेरा,

गँवार, छींक, फेनी, कचोला, कटोरा, गाड़ी, खोर, खोल, खौल्ली, गँवार, कचरा, कतवार, कछौटी, कटार, कड़कड़, कवेड (उत्पाद), राजस्थानी कवेडी, तबला, दाव, पाखर, असरार (गुजराती) आदि शब्दों का निकास लुल्ल, घुघुर, ढंख समोसिय, लुट्ट, लुट्टार, गयार, चिक, फेणिय, कच्चोल, कट्टोरग, गडड, गड्डिय, खोर, खोल्ल, खोल्लिय, गयार, कच्चरा, कत्तर, कच्छौटी, कट्टार, कट्टारी, कडयड, कवेड, कवेडी, तिवली, दाय, पक्खर, असराल आदि से स्पष्ट रूप से लक्षित होता है।

केवल शब्द-रूपों की दृष्टि से ही नहीं, ध्वनी-परिवर्तन तथा पद-रचना की दृष्टि से भी संस्कृत के इतिहास तथा विकास को समझने के लिए आगमकालीन प्राकृत बोलियों एवम् भाषाओं का अध्ययन करना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। इनको समझे बिना भारतीय भाषाओं का इतिहास तथा इस देश की संस्कृति का अध्ययन अपूर्ण रहेगा। अब तो यह भी कहा जाने लगा है कि भ. बुद्ध ने प्राकृत भाषा में उपदेश दिए थे। तथ्य जो भी हो, इतना निश्चित है कि भगवान् महावीर और गौतम बुद्ध तत्कालीन क्रान्ति-धुरी के वाहक थे। उनकी वाणी में ऊर्जस्विता तथा स्फूर्ति थी, क्योंकि वह किसी वर्ग की नहीं, जनसामान्य की भाषा में पले-पुसे और विचरे थे। पता नहीं, वह मागधी, अर्द्धमागधी या प्रथम प्राकृत क्या थी; किन्तु इतना निश्चित है कि उनकी भाषा जन-जन की चेतना की भाषा थी। वह जन-सामान्य की संवेदना की वाहक थी और आम जनता उसे सहज समझ सकती थी। उनकी 'दिव्यध्वनि' का भी यही रहस्य है कि जैसे हारमोनियम के संगीत को सरलता से सभी समझ सकते हैं, राग-ध्वनि तथा लय के निःसृत होते ही गीत की टेक अनुगुंजित हो जाती है, वैसे ही उनकी दिव्यध्वनि सभी के लिए बोधगम्य थी। क्योंकि उनकी धर्म-सभा में विभिन्न भाषा-भाषियों का समवाय एकत्र था। उस समय अठारह-महाभाषाएँ और सात सौ लघुभाषाएँ प्रचलित थीं। उन भाषाओं तथा बोलियों का जैनागमों में समय-समय पर प्रयोग तथा मिश्रण होता रहा है। क्योंकि जनता की भाषा प्राकृत (सर्वासामेव प्राकृतभाषाणां—काव्यादर्श टीका, १, ३३) सभी भाषाओं में परिणमनशील "सर्वाधमागधी सर्वभाषासु परिणामिनीम्"—वाग्भटकाव्यानुशासन, पृ. २ थी। सातवीं शताब्दी के ग्रन्थकार श्री जिनदास गणि ने अठारह भाषाओं से मिश्रित 'अट्ठारसदेसीभासा-निययं वा अर्द्धमागहं' भाषा को अर्द्धमागधी कहा है। इसका अर्थ यही है कि अर्द्धमागधी में उस समय की सभी प्रचलित लोकभाषाओं की शब्दावली का प्राधान्य था। कोई-कोई महाराष्ट्री से मिश्रित मागधी को अर्द्धमागधी कहते हैं। जो भी हो, वह उस समय की मगध प्रदेश में प्रचलित भाषा थी, जो क्रमशः बोलियों के अनेक रूपों में परिवर्तित होती हुई साहित्य में प्रयुक्त होने लगी, जो कालान्तर में परिनिष्ठित हो महाराष्ट्री, शौरसेनी आदि नामों से अभिहित की गई।

उद्धरण

१. 'आगम्यन्ते परिच्छिद्यन्ते अर्थाः ऽ अनेनेत्यागमः, आप्तवचनसम्पद्यो विप्रकृष्टार्थ प्रत्ययः ।'—स्थानांगसूत्र की अभयदेवसुरी की वृत्ति ३३८, पृ. २४६
तथा—'आगमो हि णाम केवलणाणपुरस्सरो पाएण अणिदियत्थविसमो अचित्तिसहाभो जुत्तिगोथरादीदो ।'—कषायपाहुड की घवला टीका, पु. ६, पृ. १५१
२. आचार्य प्रभाचन्द्र : न्यायकुमुदचन्द्र, द्वितीय भाग, पृ. ८०६
३. देवकृतो ध्वनिरित्यसदेतद् देवगुणस्य तथा विहतिः स्यात् ।
साक्षर एव च वर्णसमूहान्नेव विनार्थगतिर्जगति स्यात् ॥ महापुराण, २३, ७३
४. 'भगवं च रां अद्रमागहोए भासाए घम्ममाइक्खइ' । समवायांगसूत्र, ३४, १
'भासारिया जे रां अद्रमागहाए भासाए भासति ।'—पन्नवणासुत्त, १, ६२
५. पं. कैलाशचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री : जैन साहित्य का इतिहास पूर्व-पीठिका, प्रथम संस्करण, पृ. ४६६
६. सिंहसंघो नन्दिसंघः सेनसंघो महाप्रभुः ।
देवसंघ इति स्पष्टं स्थानस्थिति विशेषतः ॥ नीतिसार, ७
७. हिन्दुस्तानी भाग ३३, अंक २, पृ. ८५-८६ 'पाटण के हस्तलिखित जैन ज्ञान भण्डार'
लेख से उद्धृत
८. महाकवि पुष्पदन्त विरचित 'वीरजिण्णिदचरिउ' की प्रस्तावना, पृ. ४६
९. वही, पृ. ४६
१०. मुनिश्री नथमल : जैन दर्शन मनन और मीमांसा, १६७३, पृ. ७६
११. पाइअ-सद्-महण्णवो का उपोद्घात, द्वितीय संस्करण, पृ. ३३
१२. सं. ग्रैहम विल्सन : ए लिग्विस्टिक्स रीडर में प्रकाशित 'लैंग्वेज एण्ड डायलेक्ट'
निबन्ध, पृ. ८७
१३. विल्सन, ग्रैहम (सं.) : ए लिग्विस्टिक्स रीडर, न्यूयार्क, १९६७ में प्रकाशित
स्टेनली रुडले के प्रकाशित निबन्ध 'लैंग्वेज एण्ड डायलेक्ट', पृ. ८७ से उद्धृत
१४. ए. डी. पुसालकर : वेयर द पुराणाज ओरिजनली इन प्राकृत, आचार्य ध्रुव
स्मारक ग्रन्थ, भाग ३, गुजरात विद्यासभा, अहमदाबाद, पृ. १०३
१५. द्रष्टव्य है बरो, टी. : द संस्कृत लैंग्वेज, हिन्दी अनु. पृ. ४३
१६. वही, पृ. ६
१७. चटर्जी, डॉ. सुनीतिकुमार : भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी, द्वि. सं., १९५७,
पृ. ६३
१८. द्रष्टव्य है—चटर्जी, सुनीतिकुमार : भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी, द्वि. सं.,
१९५७, पृ. ४१

१६. टी. बरो : द संस्कृत लैंग्वेज, हिन्दी अनुवाद, पृ. ३०
२०. वी. जे. चौकसी : द विवागसुयम् एण्ड कम्पेरेटिव प्राकृत ग्रामर, अहमदाबाद, १९३३, पृ. ६-८
२१. विन्फोड पी. ल्हेमन : प्रोटो-इण्डो-यूरोपियन फोनोलॉजी, पाँचवाँ संस्करण, १९६६, पृ. १२
२२. टी. बरो : द संस्कृत लैंग्वेज, अनु. भोलाशंकर व्यास, १९६५, वाराणसी, पृ. ६८-६९
२३. आर पिशेल : कम्पेरेटिव ग्रामर आव द प्राकृत लैंग्वेज, अनु. सुभद्र झा, द्वि. सं. १९६५, पृ. ४-५
२४. डॉ. जगदीशचन्द्र जैन : जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, वाराणसी, १९६५, पृ. ३०४
२५. 'जनं विभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम् ।'—अथर्ववेद, का. १२, अ. १, सू. १-४५
२६. संस्कृतैः प्रकृते वाक्यैः शिष्यमनुरूपतः ।
देशभाषाद्युपायैश्च बोधयेत् स गुरु स्मृतः ॥
२७. वाल्मीकिरामायण, सुन्दरकाण्ड, ३०, १७, १९
'प्राकृतः कथितस्त्वेष पुरुषाधिष्ठितो मया ।'—लिंगपुराण, ३, ३९
'विधिः साधारणो यत्र सर्गाः प्राकृतवैकृताः ।'—श्रीमद्भागवत, अ. १०, श्लो. ४६
२८. नाट्यशास्त्र, ३२, ४३१
२९. एतदेव विपर्यस्तं संस्कारगुणवर्जितम् ।
विज्ञेयं प्राकृतं पाठ्यं नानावस्थान्तरात्मकम् ॥—नाट्यशास्त्र, अ. १७, श्लो. २
संस्कृतमेव संस्कारगुणैर्न क्लेश परिदक्षणरूपेण वर्जितं प्राकृतं, प्रकृतेरसंस्कृतरूपायाः
आगतम् । नन्वपञ्चशानां को नियम इत्याह नानावस्थान्तरात्मकम्.... देशभेदेषु
प्रसिद्धया नियमिनामिच्छेत् ।— तथा—देशीपदमपि स्वरस्यैव प्रयोगावसरे प्रयुज्यत
इति तदपि प्राकृतमेव, अव्युत्पादितप्रकृतैस्तज्जनप्रयोज्यत्वात् प्राकृतमिति
कंचित् ।'—विवृति (अभिनवगुप्त)
३०. नाट्यशास्त्र, १७, २७
३१. मागध्यवन्तिजा प्राच्या औरसैन्यधर्मशास्त्री ।
वाल्हीका दाक्षिणात्या च सप्तभाषाः प्रकीर्तिताः ॥—नाट्यशास्त्र, अ. १७,
श्लो. ४९
३२. चटर्जी, सुनीतिकुमार : भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी, द्वि. सं. १९५७, पृ. ८३
३३. सुकुमार सेन : ए कम्पेरेटिव ग्रामर आव मिडिल इण्डो-आर्यन, द्वि. सं., १९६०,
पृ. ७

३४. लुडविग अल्सडोर्फ : द ओरिजन आफ द न्यू इण्डो-आर्यन स्पीचेज, अनु. एस. एन. घोषाल, जर्नल आफ द ओरि. इ., बड़ोदा जिल्द १०, सं. २, दिस. १९६०, पृ. १३२-१३३
३५. सिद्धेश्वर वर्मा : द फोनेटिक आब्जर्वेशनन्स आफ इडिप्यन ग्रामेरियन्स, दिल्ली, १९६१, पृ. ५०
३६. डॉ. सत्यरंजन बनर्जी : फ्रेग्मेन्ट्स आफ द अर्लिएस्ट प्राकृत ग्रामेरियन्स, श्री महावीर जैन विद्यालय सुवर्णमहोत्सव ग्रन्थ भा. १, १९६८, पृ. २७०-२७४
३७. डॉ. एम. ए. मेहन्दाळे : हिस्टारिकल ग्रामर आफ इन्सक्रिप्शनल प्राकृतस, परिचय, पृ. १५
३८. द्रष्टव्य है : निरुक्त (यास्क) द्वितीय अध्याय, षष्ठ पाद
३९. डॉ. ए. एम. घाटगे : हिस्टारिकल लिग्विस्टिक्स एण्ड इण्डो-आर्यन लैंग्वेजेज, बम्बई, १९६२, पृ. ११२
४०. डॉ. नैमिचन्द्र शास्त्री : अशोककालीन भाषाओं का भाषाशास्त्रीय सर्वेक्षण, परिषद् पत्रिका, भाषा-सर्वेक्षणांक, वर्ष ८, अंक ३४, पृ. ७८
४१. वही, पृ. ७८ से उद्धृत
४२. 'चौदितं तु प्रतीयेत आविरोधात् प्रमाणेन ।'
'अथ यान्सब्दान् आर्या न कस्मिंश्चिदर्थे आचरति म्लेच्छास्तु कस्मिंश्चित् प्रयुज्जंते यथापिक-नेम-सत-तामरस आदि शब्दा- तेषु सन्देहः ।—शबरभाष्य, अ. १, पा. ३, सू. १० अ ५
४३. द्रष्टव्य है : प्रोसीडिंग आफ द सेमिनार आफ स्कालर्स इन प्राकृत एण्ड पालि स्टडीज, मगध युनिवर्सिटी बोधगया, १९७१, पृ. ६१

भगवान् महावीर की परम्परा का जन-भाषा के विकास में योगदान

डॉ. प्रेम सुमन जैन

उदयपुर विश्वविद्यालय, उदयपुर (राजस्थान)

भगवान् महावीर का जीवन लोक-कल्याण के लिए समर्पित था। शिष्ट और अभिजात समाज के मंच से उतरकर महावीर जन-जन के आंगन तक पहुँचे हैं। जन-जीवन के विभिन्न पक्षों को महावीर ने अपनी साधना और आचरण के द्वारा ऊपर उठाया है। जन-सामान्य की सामाजिक प्रतिष्ठा, धार्मिक समानता, राजनैतिक स्वतन्त्रता आदि दिलाने में महावीर के योगदान का मूल्यांकन करना चिन्तन का स्वतन्त्र विषय है। इन सबके मूल में भाषा का दायित्व महत्वपूर्ण होता है। जब तक व्यक्ति को अपने चिन्तन की अभिव्यक्ति और उसके माध्यम के प्रयोग की स्वतन्त्रता न हो तब तक उसका पूर्ण विकास सम्भव नहीं है। अतः महावीर ने भाषा की स्वतन्त्रता पर विशेष बल दिया। उनके जीवन में ऐसे कई प्रसंग आए हैं जब उन्होंने जन-भाषा के विकास के लिए परम्परा से प्राप्त ज्ञान और रूढ़ भाषा की व्यवस्था को स्वीकार नहीं किया।

जैनागमों से हमें पता चलता है कि महावीर ने किसी को अपना गुरु नहीं बनाया। वे किसी परम्परागत व्यवस्था में बँधे नहीं। क्योंकि इससे उन्हें वही सीखना पड़ता जो किसी राजघराने के कुमार को जवरन सिखाया जाता था तथा वे वही भाषा बोल पाते, जिसे कुछ मुट्टी भर लोग ही समझते व बोलते थे। अतः महावीर ने किसी भाषा विशेष व ग्रन्थ विशेष में सीमित तथाकथित ज्ञान को सीखने से अस्वीकार कर दिया था। वे जन-जन के बीच भ्रमण कर उनकी भाषा विशेष को ग्रहण करने तथा उस जन-भाषा को तत्त्वचिन्तन से भरने और अर्थवत्ता प्रदान करने में जुट गए थे।

भगवान् महावीर के जीवन की कई इकाइयाँ अभी स्पष्ट नहीं हुई हैं। अति-शयोक्ति और चमत्कारिता से वे अति-प्रोत हैं। आवरण को हटा कर देखने पर पता चलता है कि महावीर का व्यक्तित्व कुछ दूसरा ही था। जो वे जन-सामान्य के लिए कहना चाहते थे, उसे पहले अपने जीवन में उतारना आवश्यक समझते थे। आगमों में कहा गया है कि महावीर को पाठशाला में ले जाया गया। वहाँ उन्होंने एक ब्राह्मण बटुक के अनेक प्रश्नों का समाधान पहले दिन ही कर दिया। उनके इस अतिशय ज्ञान से पाठशाला का गुरु भी चकित रह गया। महावीर को पाठशाला की परम्परागत शिक्षा और भाषाज्ञान से मुक्त कर दिया गया। यह घटना एक ओर यह सोचने का संकेत देती है कि सम्भवतः महावीर को किन्हीं कारणोंवश विधिवत् शिक्षा ग्रहण करने का अवसर प्रदान नहीं किया गया, तो दूसरी ओर इससे यह भी फलित होता है कि तत्त्वचिन्तन एवम् बुद्धि का विकास किसी एक भाषा व जाति में ही सिमटा हुआ नहीं है। व्यावहारिक शिक्षा ही आत्म-ज्ञान का प्रवेशद्वार नहीं है। अक्षर और व्याकरण-ज्ञान से अनभिज्ञ व्यक्ति भी आत्म-विकास

के पथ पर आगे बढ़ सकता है। यह विश्वास जन-सामान्य में पैदा करना महावीर के बचपन की इस घटना की सार्थकता है।

साधनकाल में महावीर अधिकतर मौन रहे। इससे उनकी आत्म-साधना और जनसम्पर्क अभियान में कोई बाधा नहीं आयी। यह एक और प्रयोग था इस दिशा में कि मन्त्रों का उच्चारण एवम् स्तुति पाठ से ही आत्म-साक्षात्कार नहीं होता, अपितु बाह्य इन्द्रियों के मौन एवम् ज्ञान इन्द्रियों के उदघाटन से भी वह हो सकता है। महावीर के १२ वर्षों के साधनकाल में किसी विशिष्ट भाषा के ज्ञान के न होने से कोई कठिनाई हुई हो, ऐसा कोई उल्लेख नहीं मिलता। साधना के इन क्षणों में महावीर उत्तर भारत के विभिन्न क्षेत्रों में भ्रमण करते रहे। अतः उस समय की अनेक भाषाओं व बोलियों के सम्पर्क में वे आए। उनका यह भी अनुभव रहा होगा कि प्रायः सभी भाषाएँ किसी न किसी एक धरातल पर एक हैं।

जन-भाषा को महत्व देने का प्रयत्न महावीर निरन्तर करते रहे। केवल ज्ञान की उपलब्धि के बाद जब उनकी प्रथम देशना हुई तो वह भी एक ऐसी भाषा में हुई, जिसमें सभी भाषाएँ सम्मिलित थीं। शास्त्रों में महावीर के उपदेश की भाषा को दिव्य-ध्वनि कहा गया है। इस भाषा की यही दिव्यता थी कि वह सभी प्राणियों तक सम्प्रेषित होती थी। आध्यात्मिक दृष्टि से वह अनक्षरात्मक तथा व्यवहारिक दृष्टि से अक्षरात्मक थी। इसे सर्वभाषात्मक इसीलिए कहा गया है कि उसमें आर्य, अनार्य सभी भाषाओं के तत्त्व सम्मिलित थे। महावीर की प्रथम देशना की इस भाषा को अर्धमागधी कहा गया है, जो मागधी और शौरसेनी भाषाओं के मेल से बनी है। प्राचीन जैन आगम अर्धमागधी और शौरसेनी प्राकृत में ही उपलब्ध हैं।

भगवान् महावीर के प्रमुख शिष्यों में यद्यपि संस्कृत भाषा के प्रकाण्ड पंडित भी सम्मिलित थे किन्तु सभी ने महावीर के उपदेशों का आकलन एवम् प्रचार जन-भाषाओं में ही किया है। क्योंकि महावीर के उपदेश किसी जाति, वर्ण व वर्ग विशेष के लिए नहीं थे। अतः श्रोता के स्तर एवम् उसकी भाषा के माध्यम के अनुसार ही उनको प्रचारित किया गया है। महावीर ने कहा है कि भाषा के दोष एवम् गुणों को जान कर ही उसका व्यवहार करो तथा भाषा की क्लिष्टता का सदा त्याग करो—

भासाइ दोसे व गुरोण जाणिया ।

तीसे य दुट्ठे परिवज्जए सया ॥

—दशवैकालिक, ७/५६

अभिव्यक्ति के माध्यम की इसी सरलता के कारण महावीर का धर्म देश के विभिन्न भागों एवम् विभिन्न स्तरों के लोगों के बीच फैल सका है।

बौद्ध-साहित्य में उल्लेख मिलता है कि भगवान् बुद्ध के समय ही उनके कुछ शिष्य बुद्ध-वचन को संस्कृत (छान्दस) में संकलित करना चाहते थे। क्योंकि उनकी

धारणा थी कि अपनी-अपनी भाषा में बुद्ध-वचनों को संकलित कर भिक्षु उन्हें दूषित कर रहे हैं। किन्तु भगवान् बुद्ध ने अपने उपदेशों को संस्कृत में प्रचारित करना उस समय ठीक नहीं समझा। उन्होंने भिक्षुओं को अपनी भाषा में बुद्ध-वचन प्रचारित करने की अनुमति दी थी—

अनुजानामि मिक्खवे सकायनिसत्तिया बुद्ध वचनं परियापुणितुं।

—मज्झिम निकाय

भगवान् बुद्ध के इस आग्रह के पीछे सम्भवतः भगवान् महावीर द्वारा प्रयुक्त जन-भाषा का उदाहरण उपस्थित था। महावीर के संघ में ऐसा कोई उदाहरण नहीं मिलता जबकि किसी साधु ने अर्धमागधी को छोड़कर किसी शिष्ट भाषा के प्रति अपना आग्रह व्यक्त किया हो और न ही ऐसा कोई सन्दर्भ उपलब्ध है, जिसमें महावीर ने केवल अर्धमागधी भाषा के प्रयोग की ही बात कही हो। फिर भी जैन आगम और व्याख्या-साहित्य की भाषा बहुत समय तक अर्धमागधी ही रही है।

महावीर ने यद्यपि किसी भाषा विशेष का नाम लेकर उस पर जोर नहीं दिया। किन्तु भाषा की गुणग्राहता का अवश्य ध्यान रखा है। दशवैकालिक में उन्होंने कहा कि जिससे अप्रीति उत्पन्न हो और दूसरा व्यक्ति शीघ्र कुपित हो ऐसी अहितकारी भाषा सर्वथा न बोलें—

अपत्तियं जेण सिया आसु कुप्पेज्ज वा परो।

सव्वसो तंन भासेज्जा भासं 'अहियगामिसिं' ॥ ८/४७

प्रबुद्ध व्यक्ति हृदय तक पहुँचने वाली भाषा का व्यवहार करें 'वएज्ज बुद्धे हियमागुलोमियं' तथा यदि कोई व्याकरण की दृष्टि से भाषा बोलने में स्खलित हो जाय तो उसका उपहास नहीं करना चाहिए—

'वइ-विकखलियं नच्चा न तं उवहसे मुणी ।'

जनभाषा के उत्थान में भगवान् महावीर के इस प्रकार के विचार ही आधारभूमि रहे हैं। इन्हीं से प्रेरित होकर ही महावीर की पराम्परा में भी प्रत्येक युग की जन-भाषा को महत्व प्रदान किया गया है।

अर्धमागधी एवम् शौरसेनी प्राकृत में श्वेताम्बर एवम् दिगम्बर आगम साहित्य की रचना हुई है। तो जनाचार्यों ने काव्य के लिए महाराष्ट्री प्राकृत का प्रयोग किया है। पैंशाची प्राकृत में ग्रन्थ रचना कर उन्होंने म्लेच्छ कहे जाने वाले जन-मानस को भी महत्व प्रदान किया है। अपभ्रंश भाषा का साहित्य महावीर की मध्यकालीन परम्परा का हमेशा ऋणी रहेगा। जिसमें उन प्रादेशिक बोलियों को भी साहित्य की भाषा के रूप में प्रतिष्ठित किया जो आधुनिक भारतीय भाषाओं की जननी कही जाती हैं! इतना ही नहीं, जैन आचार्यों ने दक्षिण भारत की कई भाषाओं को तो अपने धर्म-प्रचार एवम् साहित्य के माध्यम से ही जीवित रखा है। कर्णाटक में जैन धर्म के प्रचार ने वहाँ की कन्नड़, तमिल,

तेलगु आदि भाषाओं की समृद्धि लोकभाषाओं के अनेक शब्दों के प्रयोग द्वारा की है। इन भाषाओं में प्रयुक्त प्राकृत से विकसित कुछ शब्द इस प्रकार हैं—

प्राकृत	कन्नड़	अर्थ
ओलण्ग	ओलण्ग, ओलण्गिसु	सेवा करना
करडा	करडे	करटा
कन्दल	कद मारना	लड़ाई
कुरर	कुरी-कुरव	भेड़, गडरिया
कोट्ट	कोटे	किला
चवेड	चप्पालि	ताली बजाना
देसिय	देशिक	पथिक
धगधग	धगधगिसु	तेजी से चलना
पल्लि	पल्ली, हल्ली	गाँव
पुल्लि	पुलि, हुलि	बाध
पिसुण्ण	पिसुण्णिअ	कहना
प्राकृत	तमिल	अर्थ
अक्क	अक्का	माँ
कडप्प	कलप्पइ	समूह
कुरर	कोरि	भेड़
कोट्ट	कोट्टई	किला
पिल्लम	पिल्लई	पशु का छोटा बच्चा
प्राकृत	तेलगु	अर्थ
कडप्प	कलपे	समूह
कुरुलु	कुरुलु	घुंघराले बाल
चवेड	चप्पट	ताली बजाना
डोम्बि	डोम्मे	भंगिन
पुल्लि	पिलि	बाध

महावीर की परम्परा में भारत की लोकभाषाएँ ही विकसित नहीं हुईं, अपितु संस्कृत भाषा के विकास को भी बल मिला है। जैन-दर्शन और न्याय की प्रतिष्ठा संस्कृत भाषा के माध्यम से शिष्ट समुदाय में की गयी है। अनेक जैन काव्य संस्कृत में लिखे गए हैं। बहुत से प्राकृत और देशी शब्दों को संस्कृत का स्वरूप प्रदान किया गया है। संस्कृत व्याकरण के अध्ययन-अध्यापन की व्यवस्था जैन संघों द्वारा संस्कृत पाठशालाओं के समान्तर में हुई है। अतः महावीर की परम्परा का योगदान संस्कृत के विकास में भी कम नहीं है।

आज हम राष्ट्रभाषा के रूप में जिस हिन्दी भाषा का प्रयोग करते हैं, उसका

विकास कई अवस्थाओं से गुजर कर हुआ है। हिन्दी भाषा में प्रयुक्त शब्द भण्डार का यदि हम मूल्यांकन करें तो पता चलेगा कि एक ओर जहाँ उसमें संस्कृत के तत्सम और तद्भव शब्द हैं, वहाँ ऐसे भी अनेक शब्द हैं जो प्राकृत और अपभ्रंश से सीधे उसमें आए हैं।

यदि इन शब्दों की जानकारी हो तो हिन्दी के हरेक शब्द की व्युत्पत्ति के लिए संस्कृत पर निर्भर नहीं रहना पड़ेगा। हेमचन्द्र की 'देशीनाममाला' तथा प्राकृत-अपभ्रंश के अन्य ग्रन्थों के वे कुछ शब्द यहाँ उद्धृत हैं जो हिन्दी में सीधे ग्रहण कर लिए गए हैं तथा उनके अर्थ में भी कोई परिवर्तन नहीं आया है।

प्राकृत	हिन्दी	प्राकृत	हिन्दी
अक्खाड	अखाड़ा	चिडिय	चिड़िया
अरहट्टु	रहट	चारो	चारा
उक्खल	ओखली	चुल्लि	चूल्हा
उल्लुटं	उलटा	चोक्ख	चोखा
कक्कडी	ककड़ी	छइल्लो	छैला
कहारो	कहार	छल्लि	छाल
कौइला	कोयला	भमाल	भमेला
कुहाड	कुहाड़ा	झाडं	झाड़
खट्टीक	खटीक	भंभडिया	भंभट
खलहान	खलिहान	डोरो	डोर
खड्डा	खड्डा	तग्गं	तागा
खल्ल	खाल	डाली	डाली
गंठी	गाँठ	थिग्गल	थेगला
गड्डु	गड्डा	नाई	नाई
गोब्बर	गोबर	बप्प	बाप
चाउला	चावल	बइल्लख	बैल
बेट्टिय	बेटी	भल्ल	भला
बड्डा	बड़ा	सलोण	सलौना
पोट्टीली	पोटली	साडी	साड़ी
पत्तल	पतला	—	—

हिन्दी भाषा के प्राकृत के शब्द ही नहीं ग्रहण किए गए हैं, अपितु बहुत-सी हिन्दी की क्रियाएँ भी प्राकृत की हैं। संस्कृत से उनकी उत्पत्ति नहीं है। तुलनात्मक दृष्टि से कुछ क्रियाएँ द्रष्टव्य हैं।

प्राकृत	हिन्दी	प्राकृत	हिन्दी
उड्डु	उड़ना	भिल्लिओ	भेलना

कड्ड	काढ़ना	देखख	देखना
कुद्दति	कूदना	बुःभ	बुभना
कुट्ट	कूटना	पिट्ट	पीटना
खेल्ल	खेलना	भिडइ	भिड़ना
खुद्द	खोदना	बोल्ल	बोलना
चुकक	चूकना	डंस	डसना
चुग्ग	चुगना	संभलिय	संभालना
चमक्क	चमकना	बइट्ट	बठना
छड्ड	छोड़ना	पिंजिय	पींजना
छुट्ट	छूटना	भेट्टिओ	भेंटना
छोल्लिय	छोलना	निककालेउं	निकलना
जाग	जागना	लुककइ	लुकना
जोडिया	जोड़ना	पल्लट्ट	पलटना
भुल्लति	भूलना	हल्लइ	हलना

शब्द और धातु रूपों के अतिरिक्त प्राकृत की अन्य प्रवृत्तियाँ भी हिन्दी में परिलक्षित होती हैं। द्विवचन का प्रयोग नहीं होता, संयुक्त व्यंजनों में सरलीकरण है, विभक्तियों का अदर्शन तथा परसर्गों का प्रयोग प्राकृत-अपभ्रंश के प्रभाव से हिन्दी में होने लग गया है। किसी भी जनभाषा के लिए इन प्रवृत्तियों से गुजरना स्वाभाविक है। वही हिन्दी भाषा जन-जन तक पहुँच सकती है, जो सुगम और सुबोध हो।

इस प्रकार भगवान् महावीर द्वारा प्रयुक्त अर्धमागधी विभिन्न कालों और क्षेत्रों की भारतीय भाषाओं को निरन्तर प्रभावित करती रही है। आधुनिक भारतीय भाषाओं की संरचना और शब्द तथा धातुरूपों पर भी प्राकृत का स्पष्ट प्रभाव है। यह उसकी सरलता और जन-भाषा होने का प्रमाण है। न केवल भारतीय भाषाओं के विकास में अपितु इन भाषाओं के साहित्य की विभिन्न विधाओं को भी प्राकृत-अपभ्रंश भाषाओं के साहित्य ने पुष्ट किया है। यह इस बात का प्रतीक है कि राष्ट्रीय एकता के निर्माण में भाषा कितना महत्वपूर्ण माध्यम होती है। संस्कृति की सुरक्षा भाषा की उदारता पर ही निर्भर है। प्राकृत-अपभ्रंश भाषाएँ इस क्षेत्र में अग्रणी रही हैं। उन्हीं का प्रभाव आज की भारतीय भाषाओं में है। तभी उनमें अनेक भाषाओं के शब्द संग्रहीत हो पाते हैं। डॉ. कन्ने के शब्दों में कहा जाय तो 'मध्यकालीन भारतीय आर्य-भाषाओं का भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि से प्राचीन और नवीन भारतीय आर्य-भाषाओं के निर्माण में स्पष्ट योगदान है और यह एक मजबूत कड़ी है, जो कि प्राचीन और नवीन को जोड़ती है।' अतः भारतीय भाषाओं के विकास क्रम को समझने और उनकी शब्द-सम्पत्ति के मूल्यांकन के लिए भगवान् महावीर की परम्परा के साहित्य का अध्ययन-अनुसंधान नितान्त आवश्यक है।

इतर विध जैन वाङ्मय

THE CONQUEST OF GANDHARVADATTA IN THE VASUDEVAHINDI

Professor J. C. Jain

28, Shivaji Park, Bombay 400028
India

The *Vasudevahindi*, written by Saighadisaganivacaka, is an important Jain work of antiquity written in the archaic Maharashtra Prakrit containing the oldest version of the Jain Ramayana. In his '*Vasudevahindi An Authentic Jain Version of the Brhatkatha*' (under print) this author has discussed that this work was composed in the 2nd century A. D. The *Vasudevahindi* is significant since by adapting the story embodied in Gunadhya's *Brhatkatha*, it provides us very interesting and characteristic pieces of the lost work in full detail. Here the whole story of Naravahanadatta's adventures described in the *Brhatkatha* have been put in the mouth of Vasudeva, Krsna's father. In this respect the *Vasudevahindi* is highly valuable in the reconstruction of the great work of Gunadhya which has been lost to us.

The *Sarira*, one of six sections (*ahigaras*) of the work is most important as it contains the wanderings (*hindi*) of Vasudeva. This section has been divided into 28 *lambhas*, being the names of the heroines who were married to Vasudeva during the course of his wanderings; of these 28, the 19th and the 20th *lambhas* are missing. The book is incomplete since it has no *uvassamhara* (the last section), hence there is no final union of the hero and the heroine as in the *Kathasaritsagara* of Somadeva and *Brhatkatha manjari* of Ksemendra, the two Kashmirian versions of the *Brhatkatha*.

The *Vasudevahindi* seems to have been quite popular with the Svetambara Jain authors. Jinabhadragani Ksmasramana in his *Visesanavati* (composed in 610 A. D.) refers to the *Vasudevacarriya* (*—Vasudevahindi*). Then Jinadasagani Mahattara in his *Avasyaka Curni* (600–650 A.D.) mentions the name of the *Vasudevahindi* and quotes several passages *verbatim*. Similarly Haribhadra Suri (8th century A. D.) and Malayagiri (12th century A. D.) have quoted the *Vasudevahindi* in their commentaries of the *Avasyaka Sutra*. Vadivetala Santisuri (death 1040 A. D.) in his commentary of the *Uttaradhyana Sutra* follows the *Vasudevahindi verbatim* without mentioning its name.

The Authenticity of The Vasudevahindi

Before the publication of the *Brhatkathaslokasangraha* of Budhasvamin, edited by F. Lacote and L. Renou (Paris, 1908–1928) the *Kathasaritsagara* of Somadeva and *Brhatkathamanjari* of Ksemendra, both belonging to the 11th century A.D. were considered the best extant versions of works deriving their material directly from the lost *Brhatkatha*. But Lacote after making an exhaustive comparative and critical study of the above-mentioned Kashmirian versions of the *Brhatkatha*, proclaimed the coherence and consistency of the *Brhatkathaslokasangraha*, claiming that as far as the contents of the lost *Brhatkatha* were concerned, the *Brhatkathaslokasangraha*, known as the Nepalese version of the *Brhatkatha*,

was much closer to the original than the two kashmirian versions, which contained alterations, omissions and interpolations (see his "Essay on Gunadhya and the Brhatkatha" translated by Rev. A.M. Tabard, Reprint from the Quarterly Journal of the Mythic Society, Bangalore, 1923).

Unfortunately, the *Vasudevahindi* was not yet printed and not available to scholars, including Lacote, before 1930. After making a comparative and critical study of the *Vasudevahindi* and the *Brhatkathaslokasangraha*, this author has noticed both the narrations so strikingly similar in content, including exactly parallel verbal expressions in many instances, that he has come to the conclusion that there must have been a common source available to both authors from which they have borrowed their material. These narrations must have formed an integral part of the lost *Brhatkatha* of Gunadhya. There are not only similarities but also deviations between the two which are sufficiently important to rule out a mutual dependency of the above works.

Both the *Vasudevahindi* and the *Brhatkathaslokasangraha* are incomplete; only one-fourth of the *Brhatkathaslokasangraha* is available, whereas as stated earlier, the *Vasudevahindi* text lacks only the missing two *lambhas* in the middle and the *uvasamhara* at the end. In general the more complete *Vasudevahindi* text not only supports the genuineness of the *Brhatkathaslokasangraha* but also supplements its missing *Sargas*. In turn the authenticity of the *Vasudevahindi* contents is enhanced by similar contents in the *Kathasaritsagara* and the *Brhatkathamajari*.

Further, the *Brhatkatha* was composed in Prakrit prose and so is the *Vasudevahindi*, the first prose version at hand. Lacote assigns the 8th or the 9th century A.D. as the period of Buddhasvamin, the author of the *Brhatkathaslokasangraha*. Even if an earlier date is ascribed to him (the 5th century A.D. in the opinion of Vasudevsharan Agrawala; Introduction to the Hindi Translation of Kathasaritsagara, Vol. I by Kedarnath Sharma, Bihar Rashtra Bhasa Parishad, Patna, 1960), the *Vasudevahindi* remains the earliest recession of the *Brhatkatha*.

The *Brhatkatha* of Gunadhya seems to have been quite popular with the Jains who were always in search of some good narrative for their religious themes. There are, besides the *Vasudevahindi*, Jain works in Sanskrit, Prakrit and Apabhramsha which have assimilated the tales of the *Brhatkatha* in different context to such an extent that it is now difficult to distinguish their material from the original. Jinasens, Gunabhadra Harisena, Puspadanta, Hemachandra and others, both Digambara and Svetambara authors, have followed a similar tradition, one which seems to be different from the *Vasudevahindi*. This shows that since the original *Brhatkatha* was not available, different prevailing traditions were made use of by different authors.

Here we are mainly concerned with the narration of the conquest of Gandharvadatta which seems to have been the most popular tale among Jain writers right upto the 12th century A.D. Besides in the *Vasudevahindi*, *Brhatkathaslokasangraha*, *Kathasaritsagara* and the *Brhatkathamajari*, the narration finds an important place in Jinasena's *Harivamsapurana* (783 A. D.), Gunabhadra's *Uttarapurana* (897 A. D.), Harisena's *Brhatkathakosa* (931 A. D.), Puspadanta's *Mahapurana* (10th century A. D.),

Devendraagani's *Akhyanamanikosa* (1073 A.D.), the *Kathakosa* translated by Tawney (after 1073 A. D.), Maladhari Hemchandra's *Bhavabhavana* (1113 A. D.), Hemachandra's *Trisastisalakapurisarita* (12th century A.D.), and Ramachandra Mumukshu's *Punyasravakathakosa* (between 931 and 1331 A. D.). The original story was most probably based on the one found in the *Brhatkatha* of Gunadhya but the above-mentioned writers followed or enlarged upon the different traditions of the tale prevailing in their time.

Below we are presenting a piece of translation from the Gandhrva-datta-lambha of the *Vasudevahindi* (Pages 126, line 11 to 121, 17; 130, 27 to 30) based on the comparative study of the *Brhatkathasloka-sangraha*, *Kathasaritsagara*, *Brhatkathamajari* and the Jain works in support of our contention.

Wandering about from country to country I. Vasudeva (Naravahana-datta in the *Brhatkathasloka-sangraha*—*BKSS*), reached Campa, the capital city of Anga. There I noticed young people, some with their relatives, carrying lutes (*vina*) in their hands. Some were selling lutes from carts which were surrounded by people.¹

I inquired of one man, "Is this just the custom of the land, or is there any other reason why the people here are so devoted to the trade of lutes" ?

He replied, "Carudatta (Sanudasa in the *BKSS*) lives here in the city; he is the head of the merchant guild. He has a very beautiful daughter named Gandharvadatta², very proficient in the science of music (*gandharaveda*).

"That merchant is as rich as Kuvera, the god of wealth. Enchanted by his daughter's beauty, the Brahmans, Ksatriyas and Vaisya are as a result all devoted to the study of the science of music. After mastering this science, the lucky man who wins in the competition gets to have Gandharvadatta as his wife. So every month a concert is held in the presence of the experts. Yesterday we had a concert; that means it will be held again in one month."

I reflected, "I have to wait for many days !" And then I inquired, "Are there any teachers who are expert in the science of music ?" He replied, Suggiva and Jasaggiva³ are the most prominent.

I decided to pass my time regularly in their house. Having deposited my ornaments in a secret underground place, I went into the city. Prattling like a fool, I came to the house of the teacher (known as Bhutika in the *BKSS*). I bowed to him; he welcomed me and asked me where I came from and what I wanted. I replied, "I am called Khandila of the Goyama lineage; I have come here to learn the science of music."

The teacher humiliated me, calling me a fool.

Then I presented his wife with a precious bangle glowing with most excellent jewels. Eyeing it she said, "O child ! have patience. Tell me your object, and you shall not worry about your food, clothing and lodging." I told her what I wanted.

She said to Suggiva, "O master! teach Khandila, do not be stingy!" He replied, "But he is dull, what can he learn?" She said, "We do not want intelligent pupils; just try him." "Saying this she showed him the bangle. The teacher agreed. After worshipping Tumburu and Narayana⁴ I was given a lute and a pick (*candanakona*) and was asked to strike the strings. I struck them so hard that they all broke. The teacher taunted his wife, "See your son's ability!" She replied, "But the strings were old and weak, let him have some strong and durable ones. In course of time he will pick up the art."

Then I was given some thick strings prepared by his pupils. The teacher told me to play gently. The following song was to be sung :

Eight Jain monks entered the
country of Surattha.
They sat under a wood-apple tree.
The fruit of the tree fell on their heads.
Their heads were hurt.
Oh ! the pupils shouted and laughed.⁵

I asked them whether the merchant's daughter knew this song or not. They said that she did not. "Then I will win her", I replied. The others laughed at this.

Times passed. Finally the day of the music competition drew near. The teacher, accompanied by his pupils, went to attend the function. He told me to come along some other time. I replied, "If she is won by someone else, what is the use of my learning? No. I shall go now." But they did not allow me to come.

I brought another bangle and gave it to the teacher's wife. She was pleased and said, "So what if they stop you! You just go and win her." Then she gave me a pair of valuable white garments perfume, flower, betel-nuts, and other things.

I put on the shoes and went to the assembly-hall of Carudatta. The experts were seated on seats prepared for them, and the rest were on the ground. The teacher looked at me suspiciously and asked me not to go near him.

I went to the assembly. Carudatta was seated there in the company of prominent citizens. I looked around the assembly-hall and remarked, "Such a hall exists only in the *vidyadhara* world and not in this world." Hearing this, Carudatta was pleased and he offered me a seat. When I took my seat the people were staring at me in open-eyed amazement.

On the wall I noticed a pair of elephant painting. I said to the merchant, "Why has this elephant been depicted short-lived by the painters?" He replied, "Master! can one determine the duration of life from a painting?"

"Yes", I replied, "And if you have any doubt, get some water and call some children." A water-pot was kept by the wall, and the children took water from this pot in the course of their play, and wiped off the

painting. The assembly audience shouted loudly, "O wonderful!" The teacher was surprised to hear this.

Now Gandharvadatta came out from behind and appeared in public. No one felt inspired to touch the *vina*. Thereupon the merchant Carudatta announced, "If nobody comes forward to sing, the girl will retire." The experts waited for a long time and then declared, "Let her go."

At this time I said, "Why should she go away? I shall examine her musical art."

The audience began looking at me and saying, "He is not a man of the earth. He must be a divine being or a *vidyadhara*, so spirited, brilliant and beautiful."

The merchant asked for a *vina* which was offered to me by his men. But I refused to have it, since a part of it was defective and therefore I could not play on it. As a test the *vina* was moistened and I was able to show a hair (*bala*) on the string. Then another instrument was brought. But I remarked that it was made from wood burnt in a jungle fire, and therefore would produce a harsh sound. This was referred to an artist and he confirmed what I said. Then a third *vina* was brought. Since it was made from wood which had been submerged in water, it would not produce profound notes, so I refused it as well.⁶

The audience was amazed to witness all this. Ultimately a *vina* was brought forward which was perfumed with sandalwood paste, ornamented with fragrant flower garlands and producing seven notes (*sattasaratanti*).⁷

Looking at the *vina* I said, "Yes, this is an excellent one, but seat is not suitable for me." Thereupon I was given a very precious seat. The merchant said, "Sing the song of Visnugitika if you know it."

"Yes", I replied, "I am familiar with it." Then the assembly members asked me, "Then what is it?"

"I have heard the song sung at the exaltation of the monk Visnu."

"Whatever was sung relating to Visnukumara has come out of the mouths of the divine beings and the *gandharvas*, was sustained by the *vidyadharas* and is now held by the prominent royal families. I, Vasudeva, learnt this song of seven musical scales while staying with Samali (one of Vasudeva's wives) herself, well-acquainted with the song.⁸

Tumburu and Narada, pleased with the *vidyadharas* told them, "We shall favour you in such a way that you will have a great devotion for music (*gandharva*)." Then they asked them to accept a musical scale (*gandharagrama*) produced by seven notes, something which is difficult to obtain in the human world and which concerns the song of Visnu.⁹

Then having touched the *vina*, Gandharvadatta and I began singing Visnugitika. The music was accompanied by the regular rise and fall of

the *gandhara* note. harmonised by the clapping of hands (*tala*), the pause (*laya*) and the grip (*graha*); and perfected by the accomplishments of the three bodily sites.

At the end of the song the citizens cried out, "Oh ! the song and instrumental accompaniment were perfectly blended, and most delicate too !"

Then the merchant, his face blooming with delight, asked the appointed expert for their opinion "What do you think of the song and the *vina* accompaniment ?" he queried.

The experts declared, "What your daughter sang today was played accordingly by the Brahman, and whatever the Brahman sang was played accordingly by your daughter."

Then the inner curtain was raised. The experts declared, "The competition is over, the city festival has ended and the *vina* performance is now complete. Gandharvadatta has got a husband."

Ultimately; a wedding ceremony was held and Gandharvadatta was given to Vasudeva by the merchant Carudatta.

REFERENCES

1. The *BKSS* (XVI. 53) adds: Even the carpenters, blacksmiths, potters and low-caste people (*varuda*) were playing the *vina*.
2. Gandharvasena in the *Harivamsapurana* (*HP*) and *Trisastisalaka-purusacarita* (*TSP*).
3. Further on in the *Vasudevahindi* (133,3) he is called Jasaggiva. Sugriva in the *HP* (19.129) and Sugriva and Yasogriva in the *TSP* (8.2.169).
4. Tumburu, name of a *gandharva*; a musician of gods in the *Mahabharata* (III. 159. 28). Compare *tambura* in Hindi. Narayan is also called Deva-Gandharva, or Gandharvaraja or simple Gandharva. Tumburu's views on *sruti* has been quoted in the *Bhaddesi* (p. 4); *Natyasastra*, vol. II, p. 23, ed. by M. Ghosh.
5. *Attha niyantha suraritham pavittha,*
Kavitthassa hettha aha sannivittha.
Padiyam kavittham bhinnam ca sisani,
Avvo ! avvo ! ttivaharanti sisa.
6. The *BKSS* (XVII. 131 ff) refers to the defective *vinas* containing a cobweb (*lutotantu*) and a hair (*kesadusita*).
7. The *BKSS* (XVII. 143) mentions here a precious lute whose surface was shaped like a turtle (*kacchapakaraphalakam*). In the *HP* and *TSP* Gandharvadatta gives him her own *vina*. In the *HP* and *Bhaktakathakosa* (*BKK*) it is called Sughosa and has 17 strings. In the *Uttarapurana* (70.301) Vasudeva asks Gandharvadatta for the Ghosavati *vina* which was given to her family by the gods; he uses it for the contest.
8. In the *BKSS* (XVII. 115-16) this song was obtained from Visvvasu by Narada, from Narada by Arjuna, then by Uttara. Pariksita, Janmejaya, Udayana, the father of Naravahanadatta and from him me (Naravahanadatta).
9. The *BKSS* (XVII. 117) states : There can be no comparison between the *gandhara* related to the musical scale and the music of human beings. Narada and others have stated that the *gandhara* cannot be had any where else except in heaven. In this context the *HP* (19.142-261) explains the art of singing in more than a hundred verses.

(क)

भारतीय विश्वविद्यालयों में जैन साहित्य और संस्कृति विषयक शोध-कार्यों की सूची

शोध विषय	लेखक	विश्वविद्यालय	सन्
१. लाइफ इन ऐशियण्ट इण्डिया एज डिपिकटेड इन जैन केनन	डॉ. जगदीशचन्द्र जैन	बम्बई	१९४४
२. स्टडीज़ इन जैन फिलॉसफी	डॉ. नथमल टाटिया	कलकत्ता	
३. प्राकृत, अपभ्रंश साहित्य और हिन्दी पर उसका प्रभाव	डॉ. रामसिंह तोमर	इलाहाबाद	१९५१
४. जैन एपिस्टीमोलॉजी	डॉ. इन्द्रचन्द्र शास्त्री	बनारस वि.	१९५२
५. अपभ्रंश साहित्य	डॉ. हरिवंश कोछड़	दिल्ली	१९५२
६. पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ नार्दनं इण्डिया फ्रॉम जैन सोर्सेज	डॉ. गुलाबचन्द्र चौधरी	बनारस वि.	१९५४
७. जैनज्म इन राजस्थान	डॉ. कैलाशचन्द्र जैन	राजस्थान	१९५४-५५
८. जैन कर्म-सिद्धान्त का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण	डॉ. मोहरलाल मेहता	बनारस वि.	१९५५
९. जैन राजनीति	डॉ. श्यामसिंह जैन	आगरा	
१०. स्टडीज इन द जैन सोर्सेज ऑव द हिस्ट्री ऑव ऐशिएण्ट इण्डिया (१००० बी. सी.-९०० ए. डी.)	डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन	आगरा	१९५६
११. जैन आगम शास्त्र के अनुसार मानव व्यक्तित्व का विकास	डॉ. हीरन्द्रभूषण जैन	सागर	१९५७
१२. अपभ्रंश साहित्य	डॉ. देवेन्द्रकुमार जैन	आगरा	१९५७
१३. अपभ्रंश काव्य परम्परा और विद्यापति	डॉ. अम्बादत्त पन्त	आगरा	१९५८
१४. ए क्रिटिकल एण्ड कम्पेरेटिव स्टडी ऑफ रिलीजन एण्ड इथिक्स	डॉ. बी. बी. रायनाडे	बनारस वि.	१९५८
१५. छठी से आठवीं शताब्दी के हिन्दी जैन लेखक	डॉ. धन्यकुमार जैन	आगरा	—

शोध विषय	लेखक	विश्वविद्यालय	सन्
१६. हिन्दी जैन भक्ति काव्य में जैन साहित्य का योगदान	डॉ. प्रेमसागर जैन	आगरा	१९५९
१७. आदिकालीन हिन्दी जैन साहित्य	डॉ. हरिसंकर शर्मा	इलाहाबाद	१९५९
१८. जैनधर्म में आत्मा का स्वरूप	डॉ. सुमतिचन्द्र जैन	आगरा	१९६०
१९. एथिकल डाक्ट्रिन्स इन जैनज्म	डॉ. कमलचन्द्र सोगानी	राजस्थान	१९६१
२०. प्राचीन हिन्दी साहित्य पर जैन साहित्य का प्रभाव	डॉ. धन्यकुमार जैन	अलीगढ़	१९६१
२१. प्राचीन हिन्दी काव्य में अहिंसा के तत्व	डॉ. विद्यानाथ मिश्र	बिहार	१९६३
२२. आचार्य पुष्पदन्त एक अध्ययन	डॉ. राजकुमार जैन,	आगरा	१९५९
२३. कविवर बनारसीदास, जोवनी और कृतित्व	डॉ. रवीन्द्रकुमार जैन,	आगरा	१९५९
२४. भट्टारक सम्प्रदाय	डॉ. विद्याधर जोहरापुरकर	नागपुर	१९५९
२५. भगवतीसूत्र : एक अध्ययन	डॉ. जे. सी. सिकदार,	बिहार	१९६०
२६. हरिभद्र के प्राकृत कथा-साहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन	डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री,	बिहार	१९६१
२७. जैन कवि स्वयंभूकृत पउमचरिउ तथा तुलसीकृत रामायण	डॉ. ओमप्रकाश दीक्षित	आगरा	१९६२
२८. ए क्रिटिकल स्टडी ऑफ प्राकृत पउमचरिय ऑफ विमल सूरि	डॉ. के. ऋषभचन्द्र	वैशाली	१९६२
२९. आचार्य कुन्दकुन्द का दर्शन	डॉ. प्रद्युम्नकुमार जैन	आगरा	१९६३
३०. पउमचरिउ और रामचरितमानस का तुलनात्मक अध्ययन	डॉ. देवेन्द्रनारायण शर्मा	बिहार	१९६३
३१. प्राचीन हिन्दी काव्य में अहिंसा के तत्व	डॉ. विद्यानाथ मिश्र	बिहार	१९६३
३२. सोमदेव : एक राजनीतिक विचारक	डॉ. पुष्यमित्र जैन	आगरा	१९६४
३३. भविसयत्तकहा और अपभ्रंश कथा-काव्य	डॉ. देवेन्द्रकुमार शास्त्री,	आगरा	१९६४

शोध विषय	लेखक	विश्वविद्यालय	सन्
३४. संस्कृत साहित्य को जैन कवियों का योगदान	डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री	मगध	१९६२
३५. सोमदेव कृत यशस्तिलक का सांस्कृतिक अध्ययन	डॉ. गोकुलचन्द्र जैन	बनारस	१९६५
३६. कन्नड़ शासनों का सांस्कृतिक अध्ययन	डॉ. चिदानन्द मूर्ति	मैसूर	
३७. आचार्य कुन्दकुन्द और उनका समयसार	डॉ. लालबहादुर जैन	आगरा	१९६५
३८. ए कम्पेरेटिव स्टडी ऑफ बुद्धिष्ट विनय एण्ड जैन आचार	डॉ. नन्दकिशोर प्रसाद	बिहार १९६४-६५	
३९. ए क्रिटिकल स्टडी ऑफ द वर्क्स ऑफ महाकवि रघु	डॉ. राजाराम जैन	बिहार १९६४-६५	
४०. जैनज्म इन बुद्धिष्ट/लिटरेचर	डॉ. भागचन्द्र जैन	श्रीलंका	१९६६
४१. आदिपुराण का सांस्कृतिक अध्ययन	डॉ. सिद्धनाथ भा	बनारस	१९६६
४२. अपभ्रंश के स्फुट साहित्यिक मुक्तक	डॉ. एन. पी. शर्मा	बिहार १९६६-६७	
४३. जिनसेन के हरिवंश पुराण का आलोचनात्मक अध्ययन	डॉ. सूर्यदेव पाण्डेय	बिहार १९६६-६७	
४४. कन्सेप्ट ऑव ओमनी-साइन्स	डॉ. रामजीसिंह	भागलपुर	१९६७
४५. जैनाचार्य रविषेणकृत पद्म-पुराण एवम् तुलसीकृत रामचरितमानस का तुलनात्मक अध्ययन	डॉ. रमाकान्त शुक्ल	आगरा	१९६७
४६. जैन और बौद्ध आगमों में नारी जीवन	डॉ. कोमलचन्द्र जैन,	बनारस	१९६७
४७. आचार्य जिनसेन कृत महापुराण के आधार पर ऋषभ तथा भरत के जीवन चरित्रों का तुलनात्मक अध्ययन	डॉ. नगेन्द्र विद्यार्थी,	सागर	—
४८. आचारांगसूत्र का समालोचनात्मक अध्ययन	डॉ. परमेश्वरीदास जैन	सागर	१९६८

शोध विषय	लेखक	विश्वविद्यालय	सन्
४९. ए क्रिटिकल स्टडी ऑफ द लाइफ ऑफ जम्बूसामि ऑन द वेसिस ऑफ जम्बूसामि चरिउ ऑफ वीर	डॉ. विमलप्रकाश जैन	जबलपुर	१९६८
५०. डास्ट्रिन ऑव मेटर इन जैनज्म	डॉ. जे. सी. सिकदार,	जबलपुर	१९६८
५१. उत्तराध्ययन सूत्र का समालोचनात्मक अध्ययन	डॉ. सुदर्शनलाल जैन,	बनारस	१९६८
५२. जैनधर्म में अहिंसा विचार	डॉ. वशिष्ठनारायणसिन्हा	बनारस	१९६८
५३. भिक्षु साहित्य का समालोचनात्मक अध्ययन	डॉ. छगनलाल शास्त्री,	बिहार	१९६८
५४. जैन तर्कशास्त्र में अनुमान प्रमाण	डॉ. दरबारीलाल कोठिया,	बनारस	१९६८
५५. मध्यकालीन हिन्दी जैन साहित्य (वि. स. १६००-१८००)	प्रो. गदाधरसिंह	मगध	
५६. जैन राजनीति	डॉ. श्यामसिंह जैन	आगरा	—
५७. आचार्य जिनसेन : व्यक्ति एवम् कृतित्व	डॉ. राजकुमार जैन	आगरा	—
५८. हिन्दी के जैन पुराणों की परम्परा का हिन्दी के अन्य पुराणों की तुलना में अध्ययन	डॉ. रवीन्द्रकुमार जैन	वैकटेश्वर	—
५९. मध्यकालीन हिन्दी काव्य में रहस्यवाद और उनका तुलनात्मक विवेचन	डॉ. प्रेमसागर जैन	आगरा	—
६०. हिन्दी जैन कवियों का काव्य-शास्त्रीय, अध्ययन	डॉ. महेन्द्रसागर प्रचण्डिया,	आगरा	—
६१. आठवीं से दशवीं शताब्दी तक भारतीय राजनीतिक चिन्तन-धारा का अध्ययन	डॉ. पुष्पमित्र जैन	आगरा	—
६२. हिन्दी गद्य-साहित्य को जैन लेखकों की देन	डॉ. श्रीचन्द्रपाल शर्मा	आगरा	—
६३. जैन गणित	श्री हरिश्चन्द्र गर्ग	आगरा	—
६४. पं. आशाधर : व्यक्तित्व और कृतित्व	श्री कपूरचन्द्र जैन	आगरा	—

शोध विषय	लेखक	विश्वविद्यालय	सन्
६५. पद्मपुराण तथा रविषेणा- चार्यकृत पद्मचरित का तुलनात्मक अध्ययन	श्री शिखरचन्द्र जैन	आगरा	—
६६. हेमचन्द्राचार्यकृत त्रिषष्टिशलाका- महापुराण का तुलनात्मक तथा श्रालोचनात्मक अध्ययन	श्री कुन्दनलाल जैन	आगरा	—
६७. धनंजयकृत द्विसंधान महाकाव्य का तुलनात्मक अध्ययन	श्री शिवदत्त गुप्त	आगरा	—
६८. जैन तत्त्व मीमांसा : तुलनात्मक अध्ययन	श्री उदयचन्द्र जैन	आगरा	—
६९. हिन्दी में जैन कथा साहित्य	श्री फूलचन्द जैन	आगरा	—
७०. संस्कृत स्तोत्र साहित्य में आचार्य समन्तभद्र का योगदान	श्री गणेशीलाल जैन	आगरा	—
७१. हिन्दी का जैन पूजा साहित्य	सुश्री कृष्णा वाष्णीय	आगरा	—
७२. जैन रास साहित्य	श्री जगवीरकिशोर जैन	आगरा	—
७३. हिन्दी में राम विषयक जैन साहित्य	श्री कल्याणचन्द्र जैन	आगरा	—
७४. महाकवि भूदरदास	श्री ब्रजेन्द्रसिंह चौहान	आगरा	—
७५. महाकवि स्वयंभू	श्री संकठाप्रसाद उपाध्याय	आगरा	—
७६. महाकवि पुष्पदन्त	श्री राजनारायण पाण्डेय	आगरा	—
७७. हिन्दी जैन साहित्य में कृष्ण वार्ता	श्री एम. पी. कोटिया	आगरा	—
७८. अपभ्रंश जैन प्रेमाख्यानक काव्य (१००० से १२००)	श्री पारसमल जैन	आगरा	—
७९. संस्कृत गद्य साहित्य में गद्य चिन्तामणि का स्थान एवम् समीक्षात्मक अध्ययन	श्री भगवतक्षरराज क्षर्मा	आगरा	—
८०. हिन्दी जैन पद साहित्य १५वीं शताब्दी के प्रारम्भ से आधुनिक काल पर्यन्त	श्री गोकुलप्रसाद जैन	आगरा	—
८१. जैन चम्पू काव्य : एक साहित्यिक तथा श्रालोचनात्मक अध्ययन	श्री जयन्तीप्रसाद जैन	आगरा	—

शोध विषय	लेखक	विश्वविद्यालय	सन्
८२. रीतिकालीन कवियों के हिन्दी प्रबन्ध काव्य	श्री लालचन्द जैन,	आगरा	—
८३. गणित और ज्योतिष के विकास में जैन कवियों का योगदान	श्री मुकुटबिहारीलाल	आगरा	—
८४. चन्द्रप्रभचरित महाकाव्य : एक अध्ययन	जयदेवी जैन	आगरा	—
८५. अपभ्रंश चरित काव्यों में शृङ्गार भावना	श्रीमती स्नेहलता कासलीवाल	इन्दौर	—
८६. जैन साहित्य में रामकथा-	श्री अक्षयकुमार जैन,	इन्दौर	—
८७. पुष्पदन्त का कृष्ण और रामकाव्य	सुश्री मेइशी कपूर	इन्दौर	—
८८. श्रीकरकण्डुचरित—सन्दर्भ शिल्प और भाषा : एक अध्ययन	श्री धन्नालाल जैन	इन्दौर	—
८९. धर्मशर्मभ्युदय महाकाव्य का तुलनात्मक और समालोचनात्मक अध्ययन	सुश्री स्वप्ना बनर्जी	इलाहाबाद	—
९०. जैन मिस्टिसिज्म	सुश्री शान्ति जैन	उदयपुर	—
९१. क्रिटिकल स्टडी ऑव तिलकमंजरी ऑव धनपाल	श्री एस. के. शर्मा	कुरुक्षेत्र	—
९२. कन्सेप्ट ऑव सरस्वती इन वैदिक एण्ड पास्ट वैदिक पीरियड	श्री आर. एन. ग्रंरी	कुक्षेत्र	—
९३. कालिदास के नाटकों की प्राकृत भाषाओं का अध्ययन	कु. एस. के. वर्मा	कुरुक्षेत्र	—
९४. अर्द्धमागधी उपांग साहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन	श्री रमेशचन्द्र जैन	जबलपुर	—
९५. जैन संस्कृत महाकाव्यों (८०० से १४०८ ई०) में रस विवेचन	सुश्री पुष्पा अग्रवाल	दिल्ली	—
९६. श्रवणबेलगोल एण्ड इट्स मोनुमेण्ट्स	स. शेड्टर	धारवाड़	—
९७. अहिहोल, इट्स हिस्ट्री एण्ड मोनुमेण्ट्स	स. राजशेखर	धारवाड़	—

शोध विषय	लेखक	विश्वविद्यालय	सन्
६८. क्रिटिकल स्टडी ऑफ नेमिचन्द्र एण्ड हिज वर्क्स	श्री बी. एस. कुलकर्णी	धारवाड़	—
६९. गोममटेश्वर	सुश्री बी. अन्नपूर्णाम्मा,	धारवाड़	—
१००. अभिनव पम्पकृत जैन रामायण	श्री संगमनाथ,	धारवाड़	—
१०१. संस्कृत नाट्यसाहित्य में जैन नाटककारों का योगदान	श्री रामनाथ पाठक	मगध	—
१०२. प्राकृत शिलालेखों का आलोचनात्मक अध्ययन	प्रो. चन्द्रदेव राय	मगध	—
१०३. रविषेणाचार्यकृत पद्मपुराण का काव्यात्मक तथा सांस्कृतिक अध्ययन	श्री महेन्द्रकुमार जैन	मगध	—
१०४. रूपककार हस्तिमल्ल और उनका नाट्य-साहित्य	श्री कच्छेदीलाल जैन	मगध	—
१०५. १३वीं १४वीं शताब्दी का जैन संस्कृत महाकाव्य	श्री श्यामशंकर दीक्षित	राजस्थान	—
१०६. प्राकृत और अपभ्रंश, उनका डिगल साहित्य पर प्रभाव	श्री जी. डी. शर्मा	राजस्थान	—
१०७. ए कम्पेरेटिव एण्ड क्रिटिकल स्टडी ऑफ प्रद्युम्नचरित काव्याज्य विथ स्पेशल रिफरेन्स टू सघारूज प्रद्युम्न चरित	श्री मदनगोपाल शर्मा	राजस्थान	—
१०८. जैन कवियों के त्रजभाषा प्रबन्ध काव्यों का अध्ययन (वि. स. १७००-१९००)	श्री एल. सी. जैन	राजस्थान	—
१०९. महाकवि समयसुन्दर और उनकी राजस्थानी रचनाएँ	श्री एस. एन. स्वामी	राजस्थान	—
११०. तेरापन्थी सम्प्रदाय का राजस्थानी और हिन्दी साहित्य	श्री बी. एन. पुरोहित	राजस्थान	—
१११. महाकवि जिनहर्ष : एक अनुशीलन	श्री ईश्वरप्रसाद शर्मा	राजस्थान	—
११२. अपभ्रंश भाषा के विकास क्रम में पश्चिमी राजस्थानी	श्री जे. पी. कौशिक	राजस्थान	—

शोध विषय	लेखक	विश्वविद्यालय	सन्
११३. विक्रम की १८वीं शताब्दी का राजस्थानी जैन साहित्य और उसका मूल्यांकन	श्री वसन्तलाल वर्मा	राजस्थान	—
११४. राजस्थानी जैन कवियित्रियाँ	श्रीमती शान्ता भानावत	राजस्थान	—
११५. जैनदर्शने द्रव्यविवेचनम्	श्री मुक्ताराम पटेरया	वाराणसी	—
११६. प्राचीन एवम् मध्यकालीन मालवा में जैन धर्म : एक अध्ययन	श्री तेजसिंह गौड़	विक्रम	—
११७. मध्यप्रदेश और राजस्थान में भट्टारकों का उद्भव और विकास	श्री चम्पालाल सिघई	विक्रम	—
११८. तिलकमंजरी का आलोचनात्मक अध्ययन	श्री वीरेन्द्रकुमार जैन	विक्रम	—
११९. वादीभसिंहसूरि और उनका काव्य	श्री शीलचन्द जैन	विक्रम	—
१२०. जैन स्तोत्र साहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन	श्री कुलभूषण लोखण्डे	विक्रम	—
१२१. संस्कृत तथा प्राकृत जैन साहित्य में महावीर कथा	श्री शोभानाथ पाठक	विक्रम	—
१२२. मालवा में जैन साहित्य का निर्माण और साहित्यकारों का योगदान	श्रीमती सुशीला जैन	विक्रम	—
१२३. मध्यप्रदेश में जैनधर्म का विकास (१२०० ई तक)	श्री गोपीलाल अमर	सागर	—
१२४. देवगढ़ की जैन कला का सांस्कृतिक अध्ययन	श्री भागचन्द्र जैन	सागर	—
१२५. मध्यप्रदेश के प्राचीन जैन अभिलेखों का अध्ययन	श्री कस्तूरचन्द्र जैन	सागर	—
१२६. जैन पुराणों में नारी	श्रीमती आशा मलैया	सागर	—
१२७. अपभ्रंश कथाकाव्यों के शिल्पकार हिन्दी प्रेमाख्यानकों के शिल्प पर प्रभाव	श्री प्रेमचन्द्र जैन	बनारस	—
१२८. धनपालकृत तिलकमंजरी का आलोचनात्मक अध्ययन	श्री जगन्नाथ पाठक	बनारस	—

शोध विषय	लेखक	विश्वविद्यालय	सन्
१२९. ए कल्चरल स्टडी ऑव निशीथ- चूर्णि	श्रीमती मधुसेन	बनारस	—
१३०. आगम साहित्य में जैन आचार्य	श्री अजीत शुकदेव शर्मा	बनारस	—
१३१. जैन हिस्टोरियोग्राफी	कु. मजु वर्मा	बनारस	—
१३२. पश्चिमी भारत के जैन मन्दिर,	श्री हरिहर सिंह	बनारस	—
१३३. जैन योग का आलोचनात्मक अध्ययन	श्री अर्हदास दिगे	बनारस	—
१३४. भारतवर्ष का प्राचीन भूगोल जैन स्रोतों के अनुसार (७०० ई. से १२०० ई. तक)	श्री संकठा प्रसाद	बनारस	—

[ज्ञानपीठ पत्रिका (जैन साहित्य संगोष्ठी स्मारिका) से साभार]

—————

सिन्धिया प्राच्य-विद्या प्रतिष्ठान के महावीर विषयक दुर्लभ हस्तलिखित ग्रन्थ

डॉ. सुरेन्द्रकुमार श्रायं

प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवम् पुरातत्व,
विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन

प्राचीन उज्जयिनी भगवान् महावीर की तपस्याभूमि से सम्बन्धित रही है। जयसिंहपुरा जैन पुरातत्व संग्रहालय में १०वीं शताब्दी की निमित्त महावीर प्रतिमाएँ मिली हैं जिनकी संख्या लगभग ७ हैं। विक्रम विश्वविद्यालय के पुरातत्व संग्रहालय में २ महावीर प्रतिमाएँ १२वीं शताब्दी की निमित्त मिलती हैं। महत्वपूर्ण पुरातात्विक जैन उपलब्धियों के अतिरिक्त यहाँ के सिन्धिया प्राच्य-विद्या शोध प्रतिष्ठान में महावीर भगवान् विषयक दुर्लभ हस्तलिखित ग्रन्थ प्राप्य हैं, जिन पर इधर कुछ भी प्रकाशन कार्य नहीं हुआ है।

सिन्धिया शोध प्रतिष्ठान में लगभग १६ हजार हस्तलिखित ग्रन्थ हैं जो संस्कृत, प्राकृत, राजस्थानी व गुजराती भाषा में हैं। विक्रमादित्य से सम्बन्धित कुछ दुर्लभ ग्रन्थ भी सुरक्षित हैं। ताडपत्र, भूर्जपत्र और तन्जौर-शैली के स्वर्ण-खचित चित्र हैं। ज्योतिष, बौद्धागम, जैनरासो, तांत्रिक व कर्मकाण्ड के अनेक हस्तलिखित ग्रन्थ यहाँ सुरक्षित हैं। यहाँ केवल महावीर भगवान् से सम्बन्धित जैन हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची व जानकारी दी जा रही है। वैसे जैन धर्म विषयक हस्तलिखित ग्रन्थ यहाँ पर ६ हजार के लगभग हैं।

प्रतिष्ठान में कुल ९ हस्तलिखित ग्रन्थ महावीर के चरित्र, स्तवन व इतिवृत्त पर सूचना देते हैं, सुरक्षित हैं।

१. महावीर स्तवन—इसका विषय जैन स्तोत्र है व इसके ग्रन्थकार लघमण श्रावक हैं जिन्होंने इसे विक्रम संवत् १५२१ में रचा था। इस प्रति के लेखक हैं मुनिमति सामर। लिपि जैन-नागरी है और भाषा राजस्थानी है। हस्तलिखित ग्रन्थ पूर्ण हैं और पत्र संख्या ५ है। आकार २५ × ११ से. मी., पंक्ति ११, अक्षर ४६ हैं। महावीर का इतिवृत्त इससे ज्ञात होता है। चौबीसवाँ तीर्थंकर के रूप में इन भगवान् की मूर्ति प्रकल्पन विषयक सूचनाएँ भी इसमें उल्लिखित हैं। ग्रन्थ अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। हस्तलिखित ग्रन्थ क्रमांक है ५७७ व लघुग्रन्थ होने के बाद भी महावीर विषयक सूचनाएँ प्रामाणिक रूप में देता है।

२. महावीर नी रास—इस ग्रन्थ के रचयिता हैं धर्मसागर मुनि व रचना संवत् १६८४ में की गई है। पूर्ण ग्रन्थ है और भाषा जैन-नागरी है। आकार २५ × ११ से. मी. पंक्ति १६, अक्षर ४१ व पत्र संख्या ७ है। महावीर विषयक गेय पद भी इसमें सम्मिलित हैं। हस्तलिखित ग्रन्थ क्रमांक ६३६।

३. महावीर स्वामी नो चरित्र—हस्तलिखित ग्रन्थ क्रमांक ५२८६ और भाषा गुजराती व लिपि देवनागरी है। इसका विषय महावीर भगवान् है। प्रति अपूर्ण है। भगवान् महावीर के परिधान, कंकण, आदि आभरण व नाना प्रकार के अलंकारों का वर्णन है जो उन्हें राजसी वेष में प्राप्य थे। प्रारम्भ में सरस्वती की प्रार्थना है, फिर महावीर के चरित्र पर पद्यात्मक रचना है। नन्दिवर्द्धन राजा का उल्लेख है।

४. महावीरदेव वृहत्स्तवन—इसके ग्रन्थकार समय सुन्दर मुनि हैं जिन्होंने इसकी रचना 'पालिताणानगर' में वास करके की थी। भाषा गुजराती व लिपि जैन-नागरी है। हस्तलिखित ग्रन्थ क्रमांक ६५८६/२ है। कृति पूर्ण है।

५. महावीर स्तवन टब्बा सहित—इसके ग्रन्थकार अभयदेव सूरि हैं। भाषा प्राकृत मिश्रित गुजराती है। आकार २५ × ११ से. मी., पंक्ति १८ अक्षर ४८ व पत्र संख्या १२ है। हस्तलिखित ग्रन्थ पूर्ण है। महावीर की स्तुति व मूर्ति प्रक्षालन की विधि बताई गई है। हस्तलिखित ग्रन्थ क्रमांक ६६६७ है।

६. महावीरद्वान्त्रिकावृत्ति सहित—लेखक उदय सागर सूरि हैं और मूल ग्रन्थकार सिद्धसेन सूरि हैं। यह संस्कृत भाषा का ग्रन्थ है व पूर्ण है। आकार ३२ × २१ से. मी. व पंक्ति २८, अक्षर २४ व पत्र संख्या १४ है। हस्तलिखित ग्रन्थ क्रमांक ७३३२ है।

७. महावीर चरित—यह भवभूति द्वारा लिखित संस्कृत नाटक है। आकार २३ × ६ से. मी., पंक्ति १२, अक्षर ३० हैं। प्रति खण्डित है और पत्र संख्या १,२,३,८४ प्राप्य नहीं है। लिपि देवनागरी। हस्तलिखित ग्रन्थ क्रमांक ११६० है।

८. महावीर चरित—इसके लेखक भी भवभूति हैं और संस्कृत भाषा में लिखित सम्पूर्ण ग्रन्थ है। पत्र संख्या ४२ है। आकार २८ × ११ से. मी., पंक्ति ८, अक्षर ४५ हैं। ग्रन्थ क्रमांक ७५४८ है।

९. महावीर चरित—भवभूति के रचित नाटक की यह हस्तलिखित प्रति संवत् १८२६ की है। पत्र संख्या ६२ है व अपूर्ण है। क्रमांक ७५४८ है।

उपरोक्त हस्तलिखित ग्रन्थ भगवान् महावीर के समय, व इतिवृत्त पर सूचनाएँ देते हैं। मूर्तिशास्त्र की दृष्टि से महावीर के वाहन, यक्ष-यक्षि व वृक्ष, श्रीवत्स लांछन विषयक दुर्लभ सूचनाएँ भी इनमें वर्णित हैं और प्रायः सभी महत्वपूर्ण हैं।



About the Journal...

THE VIKRAM

QUARTERLY RESEARCH JOURNAL OF VIKRAM UNIVERSITY, UJJAIN

Journal is mainly intended to promote research work done by the teachers and students of Vikram University. It will contain original articles, research papers, abstracts of theses accepted for the doctorate degree, and reviews of books. It will be issued four times a year, the various issues being devoted to the following subjects:—

No. 1 (Feb.)	}	Science, including Physical and Biological Sciences, Agriculture, Veterinary Science and Animal Husbandry, Medicine, Engineering Technology.
AND No. 3 (Aug.)		
No. 2 (May)	}	Arts and Indology, including Education, History, Economics, Commerce and Languages.
AND No. 4 (Nov.)		

Rates of Subscription

	Back No.	Current No.
Annual Subscription	... Rs.8/00	Rs.30/00
Subscription for Nos. 1 & 3 only	... Rs.4/50	Rs.20/00
Subscription for Nos. 2 & 4 only	... Rs.4/50	Rs.10/00
Single copy arts only	... Rs.2/50	Rs. 5.00

Contributions to the Journal

1. Papers from students intended for the Science Numbers are required to be submitted through their research guides. Papers from teachers and papers for other numbers may be sent direct. Contributions from persons not connected with this University are also accepted.

2. Only typewritten manuscripts will be accepted for publication. Papers may be written in Hindi and English.

3. Papers and articles forwarded for publication are understood to have been offered exclusively to this Journal. When an article appears in this Journal, the copyright automatically becomes the joint property of the author or authors and of the University.

4. 25 off-prints of original articles will be given to the contributors *gratis*. Additional copies of off-prints will be supplied on payment, for which requests should be submitted by the contributors in advance along with the proof which they correct.

Please address all communications to the
MANAGER

Printed at
Vikram University Press
UJJAIN

